SOCIETY AND RELIGION DURING VARDHAN'S RULE (IN HINDI)

A Thesis Submitted for the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

in

Ancient History Culture and Archaeology

By

Rajesh Kumar Singh

Under the Supervision of

Prof. Geeta Devi
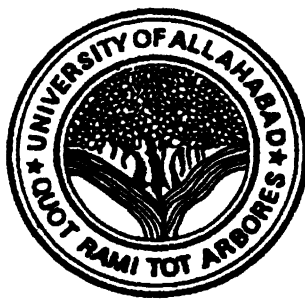
ANCIENT HISTORY, CULTURE
AND ARCHAEOLOGY DEPARTMENT

UNIVERSITY OF ALLAHABAD
ALLAHABAD

2002

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis for D Phil. entitled "Society and Religion during Vardhan's Rule" Submitted by Mr Rajesh Kumar Singh was carried out under my supervision and constitutes his own work.

Prof. Geeta Devi
Ancient History,
Culture and Archaeology Department
University of Allahabad,
Allahabad - 211002.
U P. INDIA

पूज्या माता जी
एवं
प्रिय छोटे भ्राता संजू
की स्मृति में
समर्पित

प्राक्कथन

अपने देश की सभ्यता और संस्कृति से भली-भांति परिचित होने के लिए प्राचीन भारतीय इतिहास का ज्ञान होना परमावश्यक है। प्राचीन भारतीय समाज, धर्म और राज्य-व्यवस्था का इतिहास अत्यन्त संवदेनशील है जिसको जानने के लिए हमें पुरातात्विक तथा साहित्यिक साक्ष्यों का आश्रय लेना पड़ता है। इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर हमारे पुराविदों ने प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन को कई अध्यायों में वर्गीकृत करने का प्रयास किया है जैसे-प्रागैतिहासिक काल, आद्य-ऐतिहासिक एवं ऐतिहासिक काल। जिस प्रकार प्रागैतिहासिक काल के अन्तर्गत प्रारंभिक मानव से जुड़ी संस्कृतियों का ज्ञान समाहित है उसी प्रकार ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत हमें अनेक महत्वपूर्ण काल और राजवंश के इतिहास का ज्ञान होता है जैसे कि मौर्यकाल , शुंगकाल, गुप्तकाल एवं वर्द्धन-वंश का इतिहास तथा राजपूतों का काल जिसे पूर्व मध्य काल भी कहते हैं। इसमें वर्द्धन वंश का इतिहास उस वंश के मेधावी , नैतिक और मानवीय मूल्यों के प्रतीक, जन-हित को समर्पित शासकों के योगदान से अद्वितीय काल बन जाता है।

समाज और धर्म दोनों इतिहास के अभिन्न अंग हैं। साथ-ही-साथ ये ऐसे क्षेत्र हैं जिन पर जितना भी शोध किया जाये उतना ही कम है। क्योंकि ये केवल इतिहास के विषय नहीं है बल्कि सम-सामयिक अध्ययन के भी विषय हैं। सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था पर शोध कार्य करने की जिज्ञासा के पीछे एक कारण यह भी था कि कुछ इतिहासकारों द्वारा इसे पूर्व मध्य काल में हुए परिवर्तनों का आधारशिला माना गया है। 1946 के इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस में प्रो0

वेंकटरमणैया ने अपने अध्यक्षीय संबोधन में भी 600 से 1200 ई0 के काल को कहीं अधिक महत्वपूर्ण बताते हुए यह कहा कि यह काल गुप्त काल से अधिक रचनात्मक था जबकि गुप्त काल में सैन्य बल के आधार पर साम्राज्य का विस्तार हुआ, छठीं शताब्दी से वस्तुतः रचनात्मक काल प्रारंभ होता है। वर्द्धन-वंश पर अनेक इतिहासकारों के प्रसिद्ध कृतियाँ उपलबध हैं जैसे ऑन यूवान-च्वांग ट्रेवेल्स इन इण्डिया, द्वारा अनुवादित टॉमस वार्टस (1904-5), सि-या-की (बुद्धिस्ट रिकार्ड ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, द्वारा एस0 बील (1906), हर्षवर्द्धन-इम्पेरर एण्ड पोएट, द्वारा एम0 एल0 एटिंगहाउसेन (1906), सम्राट् हर्षवर्द्धन, द्वारा संपूर्णानन्द (1920), श्री हर्ष ऑफ कन्नौज द्वारा के0 एम0 पन्निकर (1922), हर्षवर्द्धन द्वारा जी0 एस0 चटर्जी (1950), हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, द्वारा वी0 एस0 अग्रवाल (1953), हर्ष द्वारा राधा कुमुद मुखर्जी (1959), कन्नौज का इतिहास द्वारा आर0 एस0 त्रिपाठी (1959) अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, द्वारा एस0 चट्टोपाध्याय (1976) आदि जिनके अध्ययन से और अधिक जानने की अभिरूचि उत्पन्न हुयी। परिणामस्वरूप मैंने- ''समाज और धर्म-वर्द्धन वंश के शासन काल में'' को अपना शोध विषय बनाया।

भारतीय इतिहास में वर्द्धन वंश का शासनकाल (छठीं श0 ईस्वीं के प्रारंभ से सातवीं श0 ई0 के मध्य) न केवल राजनैतिक व्यवस्था और राजनैतिक षड्यंत्रो की पुष्ट ऐतिहासिक जानकारी के लिए महत्वपूर्ण रहा है, बल्कि इस काल की सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी शासक की कुछ विशिष्ट भूमिका का दिग्दर्शन होता है। जिस पर विस्तृत चर्चा हमने शोध-प्रबंध के अध्यायों में करने का प्रयास किया है। इसके लिए मैंने सहायक ग्रंथों के साथ-साथ इस काल की मौलिक रचनाओं जैसे बाणभट्ट कृत हर्षचरित एवं कादम्बरी तथा सम्राट् हर्षवर्द्धन कृत रत्नावली, प्रियदर्शिका, नागानन्द आदि एवं अभिलेखों की भी सहायता ली है।

इस शोध कार्य के निर्देशन के लिए मैं प्राचीन इतिहास, सस्कृति तथा पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्रोफेसर गीता देवी के प्रति हृदय से आभारी हूँ जिनके निर्देशन में मेरा यह शोध कार्य संपन्न हुआ। इसके साथ ही विभाग एवं विभाग से बाहर के उन सभी विद्वत् जनों को मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिनके पथ-प्रदर्शन से मुझे अपना शोध कार्य सपन्न करने में सहायता प्राप्त हुयी । मैं अपने विभाग के रीडर डा0 आर0 पी0 त्रिपाठी एवं डा0 एच0 एन0 दूबे के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने हमें शोध संदर्भ में महत्वपूर्ण सुझाव दिये।

मैं अपनी (स्वर्गीय) पूज्या माता जी श्रीमती गीता देवी और पूज्य पिताजी श्री जगन्नाथ प्रसाद सिंह के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके आशीर्वाद एवं प्रेरणा से मैं इस शोध कार्य को संपन्न कर सका हूँ। मैं अपने मित्रों-डा0 अशोक कुमार शाहा, सतीश कुमार तिवारी, डा0 ऋषिकांत पाण्डेय, अनुज कुमार सिंह, अमरेन्द्र कुमार सिंह, राम प्रसाद दूबे, महेश कुमार सिंह, संदीप कुमार गुप्ता एवं छोटे भ्राता मुकेश कुमार सिंह के प्रति भी सहयोग के लिए आभार व्यक्त करता हूँ। मैं अपनी जीवन-संगिनी श्रीमती सीमा सिंह को भी धन्यवाद देना चाहूँगा, जिन्होंने मुझे प्रतिकूल समय में भी भावनात्मक सहयोग देते हुए मेरा उत्साहवर्द्धन किया।

अंत में मैं अपने उन सभी सुवृद्ध जनों का एवं विशेष रूप से श्री नागेश कुमार गुप्ता, संजीव कुमार गिरि एवं टंकक विनोद कुमार पटेल को निर्वाध गति से कार्य संपन्न करने में सहायता के लिए हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

राजेश कुमार सिंह

राजेश कुमार सिंह

शोध छात्र,

प्राचीन इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

विषय-सूची

भूमिका

भूमिका

उत्तर भारत के राजनैतिक इतिहास में वर्द्धन-वंश के पूर्व मौर्यकालीन एवं गुप्तकालीन शासकों की विशेष भूमिका रही है। यद्यपि इन प्रमुख राजवंशों के साथ-साथ और भी अनेक राजवंशों के उतार-चढ़ाव का इतिहास उत्तर-भारत में प्राप्त होता है, जैसे-शुंग राजवंश, कण्व राजवंश, कुषाण राजवंश आदि। उत्तर-भारत के राजनैतिक मंच पर तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर सावतीं शताब्दी के मध्य जिन राजवंशों की प्रमुख भूमिका रही उनमें से वर्द्धन-वंश को पूर्व-मध्य काल के प्रारंभिक कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। यद्यपि इसके पूर्व गुप्त-वंश के शासकों के काल को स्वर्णयुग की संज्ञा दी गई है लेकिन उससे वर्द्धन-वंश के शासन-काल का महत्व कदापि कम नहीं होता।

छठीं शताब्दी ईस्वी के प्रारंभ में वर्द्धन-वंश की स्थापना के साथ कई रोचक प्रसंग जुड़े हुए हैं। कस्तूरिया जी ने भी अपनी पुस्तक 'सम्राट् हर्षवर्द्धन' में हर्ष के जन्म पर आयोजित उत्सव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उस समय की राजनैतिक परिस्थिति विषम स्थिति से गुजर रही थी। संपूर्ण उत्तरी भारत छोटे-बड़े राज्यों में विभाजित हो गया था, जो परस्पर संघर्षरत् थे। इनमें चतुर्दिक अराजकता एवं अव्यवस्था का बोलबाला था। हर्ष के उदय के समय तक उत्तर भारत की राजनीति में निम्नलिखित शक्तियॉ विशेषरूप से सक्रिय थी :-

मगध के गुप्त-राजवंश की स्थापना लगभग 275 ईस्वी मे महाराज गुप्त द्वारा की गयी। ईसा की छठीं शताब्दी के मध्य (550 ईस्वी के लगभग) शक्तिशाली गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

बलभी के मैत्रक-वंश की स्थापना भट्टार्क नामक व्यक्ति ने की थी।

हूण मध्य एशिया में निवास करने वाली एक खाना-बदोस और बर्बर जाति थी। कालान्तर में उनकी दो शाखाएँ-पश्चिमी और पूर्वी हो गयीं। हूणों

की पूर्वी शाखा का पहला भारतीय आक्रमण गुप्तसम्राट् स्कन्दगुप्त के शासन-काल में हुआ।

यशोधर्मन ने मालवा में अपना राज्य स्थापित किया। मन्दसोर प्रशस्ति यशोधर्मन का चित्रण उत्तर-भारत के चक्रवर्ती शासके के रूप में करती हैं।

गुप्त-साम्राज्य के अवशेष पर समस्त उत्तर-भारत में जिन अनेक छोटे-बड़े राज्यों का उदय हुआ उनमें मगध और मालवा के उत्तर-गुप्त वंशों का इतिहास उल्लेखनीय रहा है। इस वंश की स्थापना कृष्णगुप्त ने की थी। गुप्तों के इस अवसान काल की राजनैतिक अस्थिरता का सुस्पष्ट उल्लेख डा0 आर0 पी0 त्रिपाठी ने भली-भांति किया है।

उपरोक्त राजवंशों के समान ही मौखरि भी गुप्तों के सामंत थे। मौखरि मूलतः गया के निवासी थे। कालान्तर में उन्होंने कन्नौज में एक राज्य स्थापित कर लिया और उनके समय में मगध के साथ पर कन्नौज राजनीतिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र बन गया। कन्नौज के मौखरियो का इतिहास महाराज हरिवर्मा के समय से प्रारंभ होता है।

ऐसी ही परिस्थितियों में गौड़ के शशांक एवं कामरूप के वर्मन वंश का भी प्रादुर्भाव हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह समय किसी महान सेनानायक की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सुनहरा अवसर प्रदान कर रहा था। इन्हीं परिस्थितियों में थानेश्वर में वर्द्धन-वंश का उदय हुआ और उत्तरी-भारत में राजनैतिक परिस्थितियाँ केन्द्रीकरण की दिशा में अग्रसर हुयी।

थानेश्वर या स्थाण्वीश्वर भारतीय इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। छठीं शताब्दी के प्रारंभ में, जबकि हूणों के आक्रमण से गुप्त-साम्रज्य का पश्चिमी भाग छिन्न-भिन्न हो रहा था, पूर्वी पंजाब में (अब हरियाणा) पुष्यभूति-वंश का उदय हुआ था जिसे वर्द्धन-वंश भी कहा जाता है। गुप्तों के बाद उत्तर-भारत में जितने भी राजवंश स्थापित हुए, उनमें यही वंश

कुछ समय के लिए विकेन्द्रीकरण की शक्तियों को रोककर एक साम्राज्य बनाने में समर्थ हुआ। साक्ष्यों के आलोक में ये चरितार्थ होता है कि उत्तरी-भारत में इस वंश का सम्राट् हर्षवर्द्धन ही एकछत्र अंतिम हिन्दू सम्राट् था।

पुष्यभूति-वंश या वर्द्धन-वंश की उत्पत्ति के संबंध में इतिहासकारो के बीच काफी मतभेद हैं। बाणभट्ट ने हर्षचरित में पुष्यभूति की तुलना चन्द्र से की है। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में इस वंश को वैश्य कहा गया है और इस बात का समर्थन हुएनसांग भी करता है। कुछ विद्वान हर्षवर्द्धन को राजपूत-वंश का मानते हैं जिनमें बुलर और कनिंघम प्रमुख हैं। उनकी उत्पत्ति की स्थिति चाहे जो भी हो एक बात स्वीकार्य है कि पुष्यभूति नामक एक व्यक्ति-ने जो शिवभक्त था-इस वंश की स्थापना की थी और गुप्त साम्राज्य के अवशेष पर जब बहुत सारे राज्यों का निर्माण हो रहा था, तब उस परिस्थिति से लाभ उठाकर उसने ही पुष्यभूति-वंश का शासन शुरू किया। पुष्यभूति ने जिस वंश की स्थापना की, वह भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण वंश है और मौखरियों के बाद इस वंश ने भारतीय परिवेश मे कन्नौज को उसी तरह महत्वपूर्ण बना दिया जैसा कि इसके पूर्व पाटलिपुत्र था।

गुप्त-साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारतीय राजनीति में जो अस्थिरता आ गयी थी, उसे वर्द्धन-वंश के शासकों ने दूर कर एक सुदृढ राज्य की स्थापना की जिसका शिलान्यास 'प्रतापशील' प्रभाकरवर्द्धन के काल में हो चुका था। इसी क्रम में जब हर्ष का शासन-काल आता है तब हम यह देखते हैं कि हर्ष एक महान विजेता ही नहीं अपितु एक कुशल शासनकर्ता भी था। अपने राज्य के विभिन्न तत्वों को एक सूत्र में बाधने का हर्ष ने सफल प्रयास किया, साथ ही एक राजनीतिक और प्रशासनिक एकता भी स्थापित की। सामती व्यवस्था तथा भिन्न-भिन्न छोटे राज्यों पर अपनी इच्छानुसार शासन-व्यवस्था थोपना संभव नहीं था।

वास्तव में गुप्तकालीन शासन-व्यवस्था हर्षव'र्द्धन के शासन का आधार थी। हर्ष ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप उसमें परिवर्तन किया। युद्ध के समय वह स्वयं सैन्य संचालन करता था और शांति के समय सैन्य संगठन एवं

सैन्य निरीक्षण करता था। सम्राट् अशोक की तरह हर्ष भी धार्मिक आदर्शों और भावनाओं से प्रेरित होकर राज्यकार्य तथा प्रजा के हित में लगा रहता था।

हर्ष लोक-हितकारी कार्यों में लगा रहता था। उसने अपने युग में अनेक जन-हितकारी कार्यों की ओर ध्यान दिया। उसने अनेक धार्मिक और उपकारी संस्थाओं का निर्माण किया। शिक्षा को सबसे अधिक प्रोत्साहन दिया। दान देने में वह महान् उदार था। विद्या के प्रति हर्ष की उदारता थी जो उसके यशवृद्धि का मुख्य कारण है। धर्म और विद्या के संरक्षण में हर्षवर्द्धन सबसे बढ़कर था। इतिहास में हर्षवर्द्धन अपनी सहिष्णुता, उदारता, दान और विभिन्न सस्थाओं की स्थापना के लिए हमेशा प्रसिद्ध रहेगा।"[1]

हर्षवर्द्धन के विषय में सभी इतिहासकारों ने बाणभट्ट के हर्षचरित को ही प्रमाण माना है। कुछ विद्वान कॉवेल और थॉमस को उद्धृत करते हैं किंतु इन दोनों ने हर्षचरित का अंग्रेजी में अनुवाद मात्र किया है। वैसे प्राचीन भारतीय इतिहास में अशोक और चन्द्रगुप्त मौर्य की तरह सम्राट् हर्ष युद्ध में ज्यादा कुशल तो नहीं था किंतु बाण के हर्षचरित, युवांगच्यांग, बंसखेडा ताम्रपत्र, मधुबन ताम्रपत्र, सोनपत ताम्र मुद्रा, नालंदा मुद्रा और पुलकेशिन द्वितीय के लेख से अवगत होता है कि उसने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए कार्य किया है।"[2]

वर्द्धन-वंश में सबसे प्रतापी शासक सम्राट् हर्षवर्द्धन हुआ है जो मेरे शोध-निबंध का मुख्य वर्ण्य विषय है। वास्तव में वर्द्धन-वश अथवा हर्षवर्द्धन के साम्राज्य पर अनेक विद्वानों ने बाणभट्ट के हर्षचरित के अतिरिक्त हर्ष का चरित्र वर्णन किया है। इनमें गौरीशकर चटर्जी, प्रो0 पांथरी, डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल का "हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन" आदि प्रमुख हैं। किंतु मैने विस्तृत रूप में सम्राट् हर्षवर्द्धन के कार्यों पर अध्ययन का प्रयास किया है। "समाज और धर्म-वर्द्धन वंश के शासन काल में" नामक अपने शोध-निबंध को मैने विषय-वस्तु की दृष्टि से पांच अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रथम अध्याय में वर्द्धन-वंश के स्थापना से पूर्व उत्तर-भारत की राजनैतिक स्थिति का संक्षेप में स्वरूप प्रस्तुत किया है। द्वितीय अध्याय में इस

वंश की स्थापना, सुदृढ़ीकरण और विस्तार पर चर्चा प्रस्तुत की है। तृतीय और चतुर्थ अध्याय में तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक स्थिति का विस्तृत उल्लेख करते हुए पंचम अध्याय मे इस काल के संपूर्ण शासन काल का मूल्यांकन का अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

1-प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ0-310, प्रो0 राधाकृष्ण चौधरी।

2-प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0-210, डा0 रमाशकर त्रिपाठी।

प्रथम अध्याय

उत्तर भारत
वर्द्धन-वंश की स्थापना के पूर्व

प्रथम अध्याय

उत्तर भारत-वर्द्धनवंश की स्थापना से पूर्व

कुषाणों और आन्ध्रों की शासन शक्ति के ह्रास के पश्चात् बहुत दिनो तक उत्तर भारत में कोई शक्तिशाली शासक नहीं था। लगभग एक शताब्दी तक भारत अनेक स्वतंत्र राज्यों में विभक्त था। इस काल की मुख्य विशेषताएँ उनके पारस्परिक संघर्ष एवं उत्थान-पतन हैं। वे गणतंत्र और राजतंत्र दोनों प्रकार के राज्य थे एवं राजनीतिक स्थिति बहुत कुछ ईसा पूर्व छठी शताब्दी की तरह थी।[1]

अल्टेकर के अनुसार सामान्य रूप से शासन की राजतंत्रात्मक व्यवस्था हीं अधिक प्रचलित थी और इसीलिये शासन-संबंधी व्यवस्था को 'राजधर्म' अथवा 'राजशास्त्र' कहा गया। अल्टेकर महोदय ने लिखा है कि दैत्यों और देवों के बीच युद्ध में जब बार-बार देवों की पराजय होने लगी तब उन्होंने अपनी पराजय की स्थिति पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनकी पराजय का कारण यह है कि उनका अपना कोई शासक नहीं है। तब उन्होंने सोम को अपना राजा बनाया और युद्ध मे विजय प्राप्त की। इस प्रकार राजतंत्र की स्थापना हुयी। यद्यपि कहीं पर इन्द्र को राजा होने की भी बात कही गयी है तो कहीं पर वरूण की।[2]

उत्थान-पतन प्रकृति का एक शाश्वत नियम है। स्वार्थ, लोभ और विलासिता की भावनाओं से कोई शाक्तिशाली शासक संगठित होकर नहीं रह पाता है। ऐसी हीं परिस्थितियों में अनेक साम्राज्यो का उदय हुआ।

चतुर्थ शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ के लगभग श्रीगुप्त अथवा गुप्त नामक राजा मगध के एक छोटे से राज्य पर शासन करता था जिसके अधीन बंगाल का भी कुछ भाग था। उसके पश्चात् उसका पुत्र घटोत्कच शासक हुआ। पिता-पुत्र के पास कोई उल्लेखनीय शक्ति न थी किंतु घटोत्कच के पुत्र चन्द्रगुप्त के समय से इस वंश के इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ।

गुप्तकाल में पहुँचते-पहुँचते भारतीय समाज अत्यधिक उन्नति कर चुका था। गुप्तो के विषय में सबसे अधिक जानकारी पुराणों से होती है। पुराणों के अनुशीलन से अवगत होता है कि गुप्तवंश का नाम निम्नलिखित पुराणो में आया है - वायु पुराण, मत्स्य पुराण, विष्णु पुराण। चीनी यात्रियों के विवरण और संस्कृत साहित्य में भी गुप्तवंश का परिचय मिलता है।

गुप्त वंश का प्रथम शासक और संस्थापक श्रीगुप्त नामक राजा था। श्रीगुप्त को 'महाराज' उपाधि से भी विभूषित किया गया था। श्रीगुप्त के पश्चात् इस वंश का उत्तराधिकारी घटोत्कच हुआ और उसके पश्चात् 319 से 335 ईस्वी तक चन्द्रगुप्त प्रथम अपने पराक्रम से 'महाराजाधिराज' उपाधि से अलंकृत हुआ। इस गुप्तवंश का चन्द्रगुप्त प्रथम ही शक्तिशाली और प्रभावशाली शासक हुआ। 'महाराजाधिराज' होना भी इस बात की ओर संकेत करता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने राज्य के छोटे से क्षेत्र को चारों ओर से बढ़ाकर एक महत्वपूर्ण विशाल राज्य का रूप दिया।

चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने राज्य के विस्तार के लिये लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी के साथ वैवाहिक संबन्ध स्थापित कर राजनीति के क्षेत्र मे अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ किया। लिच्छवियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध को अत्यधिक महत्व दिया गया है क्योंकि उस युग में लिच्छवियों की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनैतिक स्थिति अत्यंत ही सुदृढ़ थी। यहीं से ही गुप्तवंश का प्रभाव महान राजवंशों के रूप मे फेलने लगा और गुप्तवंश का साम्राज्य विस्तार होने लगा। चन्द्रगुप्त प्रथम के लिए यह लिच्छवि राजकुमारी बहुत बड़ी भाग्यशालिनी प्रमाणित हुयी। उस समय लिच्छवियों के साथ संबंध स्थापित होना ही महान् गौरव की बात थी। इसी उद्देश्य से चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपनी मुद्राओ पर भी लिच्छवि शब्द अंकित किया और अपने पुत्र को 'लिच्छवि-दौहित्र' प्रचलित किया। इस प्रकार यह भी अवगत होता है कि लिच्छवि कुमारदेवी के विवाह से चन्द्रगुप्त प्रथम को सामाजिक सम्मान, राजनीतिक शक्ति और संभवतः कुछ राज्य भी दहेज रूप में प्राप्त हुए थे।[3]

'गुप्तवंश' के राजा क्षत्रिय थे। उनके विवाह संबंध लिच्छवि और वकाटक आदि क्षत्रिय वंशों के साथ होने के प्रमाण मिलते हैं। उनके नाम के

साथ 'गुप्त' शब्द लगा रहने से उन्हें वैश्य समझना भ्रम है। महामहोपाध्याय गौरीशंकर ओझा ने राजपूताने के इतिहास में लिखा है कि गुप्तों के राज्य नष्ट होने के पश्चात् भी उनके वंशजों का राज्य मगध, मध्यप्रदेश और गुत्तल (बंबई प्रांत) आदि पर था। श्रीगुप्त अथवा गुप्त मगध के नये राजवंश का संस्थापक था जो श्रीगुप्त के नाम से विख्यात हुआ। उन्हें चन्द्रवंशीय माना जाता है। चीन देश के बौद्धयात्री इत्सिंग जो भारत में सातवें शतक के अंत मे आया था उसने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि महाराज श्रीगुप्त ने लगभग 500 वर्ष पूर्व चीन के तीर्थयात्रियों के लिए 24 ग्राम दान में दिये थे एवं मंदिर भी बनाये थे। इन मंदिरों के भग्नावशेष इत्सिंग ने स्वयं देखे थे। चीनी यात्रियों के प्रति उसकी उपकार परायणता की कथा चीनी चात्री इत्सिंग ने मगध देश में सुनी थी।[4]

चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र समुद्रगुप्त शासन का उत्तराधिकारी हुआ। समुद्रगुप्त की गणना देश के महान् और बहुमुखी प्रतिभा से युक्त सैनिकों में की जाती है। उसका शासन काल विस्तृत सैनिक अभियानों से भरा हुआ था। सबसे पहले उसने उत्तर भारत के पडोसी राज्यों के विरूद्ध उनके समूलोच्छेदन के लिए युद्ध छेड़ा। उत्तर में वह चम्बल तक पहुँच गया था। इस क्षेत्र के समस्त राजा मार डाले गये और उनके प्रदेश गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये गये। इस वीर सम्राट् समुद्रगुप्त के लिए पूर्व और पश्चिम की ओर बढ़ना आवश्यक था। बंगाल, असम और नेपाल आदि पूर्व के राज्य तथा यौधेय, मद्र और आभीर आदि पंजाब और राजस्थान के पश्चिमी गणराज्य एवं मालवा एवं मध्यप्रदेश के अनेक छोटे-छोटे राज्यों ने स्वयं समुद्रगुप्त की अधीनता मानकर उस गुप्त सम्राट् को कर देना स्वीकार कर लिया। वास्तव में गुप्तों की सेना का आतंक इतना बड़ा था कि सुदूर अफगानिस्तान के कुषाण राज्य और गुजरात के शक क्षत्रप भी समुद्रगुप्त की अनुकम्पा के उत्सुक थे।[5]

समुद्रगुप्त के प्रभाव और शासन काल का सशक्त प्रमाण महाकवि हरिषेण की प्रयाग-प्रशस्ति के द्वारा अच्छी प्रकार से अवगत होता है। कुछ लोगों की ऐस भी धारणा है कि महाकवि कालिदास गुप्तकाल से संबंधित हैं। उनका विचार है कि कालिदास ने अपने अंतिम महाकाव्य रघुवंश की रचना

समुद्रगुप्त को दृष्टि में रखकर की थी, किन्तु प्रयाग-प्रशस्ति के लेखक महाकवि हरिषेण तो समुद्रगुप्त का राजकवि था। उसने कही भी महाकवि कालिदास की चर्चा तक नहीं की है। अतः संस्कृत के महाकवि कालिदास को गुप्तकाल का मानना उचित प्रतीत नहीं होता। यह सब पाश्चात्य इतिहास लेखको द्वारा संस्कृत के महाकवियों की तिथियों में जान-बूझकर भ्रम उत्पन्न करना था जिसका प्रभाव आज तक भारतीयों के मस्तिष्क पर अंकित है। वास्तव में कालिदास उज्जैन के विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में एक थे, जो ईसा से 57 वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे।[6]

समुद्रगुप्त अपने कार्यों के कारण अत्यंत सफल शासक माना जाता है। दक्षिणी अभियान में इसके द्वारा एक दर्जन से अधिक राजा युद्ध में पराजित हुए और अनेक बंदी बनाये गये किंतु समुद्रगुप्त को उनके प्रदेशों पर स्थायी शासन करने की कामना न थी। अतः उसने उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करने की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति अपनायी। वह अपनी शक्ति और साधन की सीमाओं से पूर्णरूप से परिचित था। वह उत्तरी भारत के सुसंगठित प्रदेशों पर प्रत्यक्ष शासन और शेष राज्यों द्वारा प्रभुता स्वीकार कर लेने मात्र से संतुष्ट था। यदि समुद्रगुप्त ने अशोक की तरह समस्त भारत पर शासन करने का प्रयत्न किया होता तो संभवतः उसके साम्राज्य की भांति गुप्त साम्राज्य भी शीघ्र ही समाप्त हो जाता किंतु अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता के कारण ही जितना विस्तृत साम्राज्य समुद्रगुप्त छोड़ गया वह धीरे-धीरे बढा और उसके उत्तराधिकारियों ने एक सौ वर्षों से अधिक समय तक बड़ी ही कुशलता से शासन को सुरक्षित रखा।[7] चन्द्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त की भांति आने वाले वर्षों में गुप्तवंश के अन्य शासक भी यदि उतने हीं दूरदर्शी होते तो संभवतः गुप्त शासन की अवधि और अधिक हो सकती थी।

समुद्रगुप्त के साम्राज्य में चार प्रकार के प्रदेश थे-1-एक तो उसका हृदय भाग था, जिसपर सम्राट् अपने अधिकारियों की सहायता और अपनी बुद्धिमत्ता और प्रजाहितैषी होने के कारण स्वयं शासन करता था। उसकी राज्य सीमा इस प्रकार विस्तृत भू-भाग पर फैली हुयी थी-उत्तर में हिमालय, पश्चिम में यमुना और चम्बल तक, पूर्व में ब्रह्मपुत्र तक, दक्षिण में जबलपुर तक। 2- इस वर्ग में शक और कुषाणों का राज्य था। जो नाम के लिए तो

स्वतंत्र थे किंतु उन्होंने महान् गुप्त सम्राट् की अधीनता स्वीकार करना ही राजनीतिक दृष्टि से अपने लिए श्रेयस्कर माना था। 3-यह वर्ग हीन संधि के उदाहरण माने जा सकते हैं जिसमें शक्तिहीन राष्ट्र किसी शक्तिशाली राष्ट्र से अधीनता की संधि करते हैं। 4-चौथा वर्ग दक्षिण के उन 12 राज्यों का था, जिनके शासक पराजित और पुनः प्रतिष्ठित किये गये। वे कर तो अवश्य हीं देते थे और बाह्य नीतियों या निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र नहीं थे। गुप्त-सम्राट्रों की सदा से यह नीति रही कि पहले वर्ग के प्रदेश की सीमा धीरे-धीरे दूसरे वर्ग के राज्यों को मिटाकर बढ़ायें और तीसरे वर्ग को दूसरे अथवा पहले वर्ग का रूप दें।

समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व के विषय में राजकवि हरिषेण ने प्रयाग स्थित अशोक स्तम्भ पर अंकित लम्बी प्रशस्ति में लिखा है कि सम्राट् समुद्रगुप्त न केवल अपने युग का प्रथम सैनिक था अपितु उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ और सुसंस्कृत शासक भी था। राजकवि हरिषेण ने तो उसकी विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह वीर और युद्धकुशल ही नहीं वरन् वह विद्याव्यसनी, उच्चकोटि का कवि एवं संगीतज्ञ भी था। यह वास्तव में राजकवि हरिषेण की कोरी कल्पना मात्र नहीं है अपितु समुद्रगुप्त ने अपने कुछ सिक्कों पर वीणा बजाते हुए भी अंकित किया है जिससे उसका संगीतज्ञ होना भी पूर्णरूप से सिद्ध हो जाता है।

विद्याव्यसन और कला में रूचि किसी उन्नत एवं विकसित राज्य की आर्थिक समृद्धि के भी बहुत बड़े पुष्टिकारक हैं क्योंकि नीतिनिपुण, प्रजाहितैषी और राजधर्म का परिपालन करने वाला शासक जब त्यागवृत्ति से प्रजा की जीवनोपयोगी समस्त प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति करके आर्थिक दृष्टि से संपन्न हो जाता है और व्यापार की उन्नति से प्रजा भी सभी क्षेत्रों में उन्नति कर लेती है तभी कठोर श्रम करने से थकी हुयी जनता कलाकृतियों की ओर प्रवृत्त होकर राजाश्रय प्राप्त करती है। संपन्न राष्ट्र ही कला और शिक्षा की ओर प्रवृत होकर सुखानुभूति अनुभव करता है। कला का जन्म राज्य की समृद्धि का सूचक है। मानव के जीवन में कला का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। कला मानव को सत्यं शिवम् सुन्दरम् की ओर प्रवृत्त करता है। ''साहित्य,

संगीत और कलाविहीन मनुष्य को साक्षात पूँछ और सिंगरहित पशु के समान माना गया है।"[8]

गुप्तकालीन शासन के कार्यों से और सामाजिक उन्नति से यह अच्छी प्रकार से अवगत होता है कि उस काल में मानवीय उत्थान का विशेष ध्यान रखा गया था। गुप्तकाल की यही सर्वांगीणता, उपयोगिता और विशेषता रही है कि उसने जीवन के प्रत्येक पक्ष पर अति सूक्ष्म दृष्टि से चिंतन कर अपने युग का वैभवपूर्ण इतिहास विश्व के समक्ष रखा है। इसीलिए गुप्तकाल को स्वर्णयुग के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

घिल्डियाल महोदय ने भी लिखा है कि समृद्धि, शांति एवं चिंतन कार्यों की ओर बुद्धि तभी संचारित होती है जब चतुर्दिक वातावरण शांत हो एवं मानव भोजन और आच्छादन की चिंता से पूर्णरूप से मुक्त होता है।[9]

गुप्तकालीन वास्तुकला में प्राचीन परंपरा के साथ-साथ नवयुग के प्रारंभ के चिन्ह पाये जाते हैं। मूर्तिकला के क्षेत्र में गुप्तकालीन मूर्तियों को प्रत्येक दृष्टि से पूर्णतः भारतीय एवं आदर्श कहा जा सकता है। सारनाथ एवं मथुरा की बुद्ध मूर्तियों में भव्यता एवं शांति टपकती है। देवत्व के पूर्णस्वरूप का विकास देवगढ़ मंदिर में उत्कीर्ण की गई शिव, विष्णु आदि ब्राह्मण देवताओं की मूर्तियों में परिलक्षित होते हैं।[10] इन्हीं तथ्यों की पुष्टि 'द क्लासिकल एज' नामक ग्रंथ में भी किया गया है।[11]

गुप्त साम्राज्य के संवर्द्धन में चन्द्रगुप्त द्वितीय का भी लगभग समुद्रगुप्त की तरह ही योगदान रहा है। बाद के गुप्त शासकों में स्कन्दगुप्त को हूणों को पराजित करने के कारण देशवासियों ने कृतज्ञतापूर्वक 'देशत्राता' के रूप में देखा। गुप्त साम्राज्य का यह अंतिम महान् सम्राट् था।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारतवर्ष में अनेक नवीन राजवंशों का उदय हुआ। गुप्तों के पराभव काल से लेकर सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हर्ष के अभ्युदय तक की राजनैतिक स्थिति रोमिला थापर के अनुसार पर्याप्त साक्ष्यों के आभाव में बहुत स्पष्ट नहीं हो पाती।[12] उन्होंने लिखा है कि अनेक छोटे राज्य एक-दूसरे से संघर्षरत् रहते हुए गुप्तों जैसा ही शक्तिशाली बनना

चाहते थे। इसमें प्रमुख भूमिका मगध के गुप्त, मौखरि, पुष्यभूति और मैत्रक वंश की थी।[13] मौखरि उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में कन्नौज के आसपास के शासक थे जिन्होने मगध के परवर्ती गुप्तों को यह क्षेत्र छोड़कर मालवा जाने के लिए बाध्य कर दिया था। पुष्यभूति दिल्ली से उत्तर की ओर थानेश्वर के शासक थे जिन्होंने मौखरियों से वैवाहिक संबंध स्थापित किया था। पुष्यभूति शासकों का प्रमुत्व हूणों के आक्रमण के बाद प्रभाकरवर्द्धन के शासन-काल से बढ़ा जिनके विषय में हर्षचरित के रचनाकार बाणभट्ट ने अत्यंत प्रशसापूर्वक एवं रोचक ढंग से वर्णन किया है।[14] बाण ने प्रभाकरवर्द्धन को जिस प्रकार संबोधित किया है-''हूण हरिण केसरी'', ''सिन्धूराज ज्वरो,'' ''लतापरशु'' आदि[15] इससे तत्कालिक अन्य छोटी शक्तियो का ज्ञान होता है। प्रभाकरवर्द्धन के सैन्य विजय की योजना और नीति को हर्षवर्द्धन ने ही पूरा किया जिसके राज्यकाल का प्रारंभ 606 ई0 में हुआ।[16]

बलभी के मैत्रक वंश की स्थापना भट्टार्क नामक व्यक्ति ने की थी। यद्यपि मैत्रक राज्य की स्थापना की निश्चित तिथि निर्धारित नहीं की जा सकी है किंतु महाराजा द्रोणसिंह द्वारा प्रथम भूमिदान का उल्लेख 502 ईस्वी में मिलता है क्योंकि सभी प्रारंभिक दान का उल्लेख बलभी से ही संदर्भित है इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बलभी ही प्रारंभ से इनकी राजधानी थी।[17] आर0 सी0 मजूमदार ने 'द क्लासिकल एज' के अध्याय आठ में इसका वर्णन किया है। ऐसी भी धारणा है कि इस वंश की उत्पत्ति ईरान में हुयी थी।[18] फ्लीट महोदय का विचार है कि मैत्रक हूणों के इस इस शाखा की प्रतिशाखा थी जिसमें तोरमाण और मिहिरकुल जैसे शासक हुये।[19]

इस वंश के प्रारंभिक नरेश गुप्त सम्राटो के सामंत थे। 550 ई0 के आसपास मैत्रक वंश गुप्त सम्राटों की अधीनता से मुक्त हो गया था। इसी समय गुप्तों का पतन भी हो गया। मैत्रकों का राज्य संपूर्ण गुजरात, कच्छ तथा पश्चिमी मालवा तक विस्तृत हो गया तथा बलभी पश्चिमी भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य बन गया था। इसकी पुष्टि हुएनसांग के कथन से भी होती है।[20]

धरसेन चतुर्थ (606-650 ईस्वी) मैत्रक-वंश का प्रथम शासक था जिसने 'परमभट्टारक', महाराजाधिराज, परमेंश्वर, चक्रवर्तिन, जैसी सार्वभौम नरेश की उपाधियाँ धारण की थी। आठवीं शती के अंत तक बलमी का मैत्रक-वंश स्वतंत्र रूप से शासन करता रहा। अंततः मुख्य अरब आक्रमणकारियों ने मैत्रक-वंश के राजा की हत्या कर बलमी को पूर्णतया नष्ट कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि हर्ष के शासन काल तक उत्तर भारत की राजनैतिक पृष्ठभूमि में मैत्रकों की महत्वपूर्ण भूमिका थी।[21]

मैत्रकवंशी नरेश बौद्ध धर्म में आस्था रखते थे तथा उन्होंने बौद्ध विहारों का दान दिया। उनके शासन-काल में बलमी शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ एक विश्वविद्यालय था जिसकी पश्चिमी भारत में वही ख्याति थी जो पूर्वी भारत में नालन्दा विश्वविद्यालय की थी। सातवीं शती के चीनी चात्री इत्सिंग ने इस शिक्षा केन्द्र की प्रशंसा की है। इस विश्वविद्यालय का विनाश भी अरब आक्रमणकारियों द्वारा कर दिया गया। बलमी व्यापार तथा वाणिज्य का भी प्रमुख केन्द्र था।[22]

तत्कालीन राजनैतिक क्षितिज में हूणों के भी कुछ कम महत्वपूर्ण भूमिका नहीं रही है जिनका इतिहास एक विदेशी आक्रमणकारी के रूप में पाया जाता है। हूण मध्य एशिया की एक खानाबदोश बर्बर जाति थी। एक चीनी यात्री ने भी हूणों का उल्लेख एक असभ्य और क्रूर प्रकृति के जाति के रूप में किया है। ये लोग क्रमशः दो शाखाओं में विभक्त हो गये-पश्चिमी शाखा तथा पूर्वी शाखा। रोमिला थापर ने लिखा है कि इनका राज्य फारस से लेकर खोतान तक फैला था और अफगानिस्तान मे बमियान इनकी राजधानी थी।[23] हूणों का प्रथम भारतीय आक्रमण गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त के राज्य-काल में हुआ था। भितरी के लेख से स्पष्ट होता है कि हूण उसके द्वारा परास्त कर दिये गए।[24] हूणों के साथ-साथ मध्य एशिया से कुछ और अन्य मध्य एशिया के लोग भी भारत आयै जो उत्तर भारत, पश्चिम भारत और दक्षिण भारत में स्थायी रूप से बस गये। संभवतः इन्हीं शाखाओं में से कालान्तर में एक शाखा गुर्जरों के नाम से अपनी पहचान बना सकी।[25] सोमदेव के कथासरित्सागर में वर्णन मिलता है कि उज्जयिनी के नरेश महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य ने हूणों को परास्त किया था। लगता है कि यहाँ पर स्कन्दगुप्त

की ओर संकेत है, जो कुमारगुप्त का पुत्र था। जूनागढ़ के लेख के अुनसार स्कन्दगुप्त म्लेच्छों का विजेता था। उसने उनका उन्मूलन कर दिया था।[26]

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के लगभग 33 वर्षों के उपरांत (500 ई0 में) हूणों ने गंगा-धाटी पर पुनः आक्रमण किया। इसका नेता तोरमाण था। दिनेश चन्द्र सरकार का कथन है कि तोरमाण नाम तुर्की शब्द 'तोरमान', 'तूरमान' एवं 'तोरमेन' से तुलनीय है।[27] उसके राज्यकाल के अब तक चार लेख-कुरा लेख, एरण की वाराह-प्रतिमा वाला लेख, सजेली का दान-पत्र (शासन वर्ष-3) तथा संजेली का दान-पत्र (शासन वर्ष-6) प्राप्त हुए हैं। हाल में भी तीन नये लेख प्रकाश में आये हैं जो तोरमाण के जीवन-चरित एवं उपलब्धियों के विषय में नवीन सूचनाएँ प्रदान करते हैं। इनमें रिस्थलपुर का लेख उल्लेखनीय है।[28]

तोरमाण के अनन्तर मिहिरकुल ने राज्य किया। ग्वालियर में उसके शासन-काल के पन्द्रहवें वर्ष (अभि वर्द्धमान राज्ये पंचदशाब्दे) का एक लेख मिला है। इस लेख के प्रारंभ में सूर्य की स्तुति की गई है। सुंग-युन के अनुसार मिहिरकुल की राजधानी गन्धार में स्थित थी। कास्मस के लेख में वर्णित गोल्लास नामक हूण सम्राट् की एकता मिहिरकुल से की जाती है। हुएनसांग ने मिहिरकुल के विषय में लिखा है कि वह उसके आगमन के कुछ शताब्दियों पूर्व भारतवर्ष में राज्य कर रहा था। उसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) में वर्तमान थी। हुएनसांग के अनुसार गुप्त सम्राट् बालादित्य ने मिहिरकुल को परास्त कर दिया था।[29] उत्तर भारत में हूणों की गतिविधियों पर जो कुछ भी प्रकाश पड़ता है उसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुंग-युन का यात्रा विवरण है जो 518 ईस्वी में चीनी राजदूत के रूप में भारत आया था। वह 520 ईस्वी में उद्यान होते हुए कंधार पहुँचा और उसके इसी यात्रा-विवरण के कुछ संदर्भ हूणों के संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं। जैसा कि उसने लिखा है कि हूण बौद्ध धर्म में विश्वास नहीं रखते थे। वे पराजित भू-भाग की प्रजा का क्रूरतापूर्वक दमन करते थे और उन्हें कर देने के लिए बाध्य करते थे।[30] राजतरंगिणी में भी मिहिरकुल को क्रूर एवं विध्वंसकारी के रूप में वर्णित किया गया है।[31]

मन्दसोर के स्तंभ-लेख से ज्ञात होता है कि मालवा-नरेश यशोधर्मन ने मिहिरकुल को परास्त किया था। इसमें काव्यात्मक ढ़ंग से कहा गया है कि "जिसने शिव को छोड़कर अन्य किसी के सामने अपने सिर को नहीं झुकाता था जिसकी भुजाओं के द्वारा अलिंगित होने के कारण हिमालय व्यर्थ ही दुर्लधनीय दुर्ग शब्द को अभिमानपूर्वक धारण करता है, ऐसे मिहिरकुल के मस्तक को अपने बाहुबल द्वारा यशोधर्मन ने नीचे झुका कर उसे क्लेशयुक्त किया तथा उसके बालों की जूट में लगे हुए पुष्पों के द्वारा अपने दोनों पैरों की उसने पूजा करायी।"[32] इस लेख के अनुसार मिहिरकुल स्थाणु (शिव) का उपासक था। ग्वालियर के लेख में उसे पशुपति का पुजारी कहा गया है।[33]

मुद्राराक्षस में मौखरि नरेश अवन्तिवर्मा को म्लेच्छों को परास्त करने वाला कहा गया है। यहाँ म्लेच्छों से तात्पर्य हूणों से है। इसी समय पुष्यभूति वंशजों का भी हूणों के साथ युद्ध हुआ। हर्षचरित के अनुसार प्रभाकरवर्द्धन हूणरूपी हरिण के लिए केसरी (हूण-हरिण केसरी) तुल्य थे। उन्होंने अपने शासन काल के अंतिम वर्ष (605 ई0) में हूणों को हराने के लिए राज्यवर्द्धन को उत्तर दिशा में भेजा था। इस प्रकार मिहिरकुल के उपरांत हूणों का इतिहास अंधकारमय हो जाता है।

छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में उत्तर भारत में राजनैतिक आघात पहुँचाने वाली शक्ति हूणों के समान ही मालवा के शासक यशोधर्मन था जो 530 ई0 के लगभग मध्य भारत के राजनीतिक गगनमण्डल में उल्का की भाति चमक उठा। मन्दसोर प्रशस्ति यशोधर्मन का चित्रण उत्तर भारत के चक्रवर्ती शासक के रूप में करती है।[34] हरिषेण के अजन्ता लेख से पता चलाता है कि गुजरात, मालवा, कोशल, आन्ध्र, कुन्तल आदि पर उसका अधिकार था।[35] उसका उत्थान और पतन 528 ईस्वी से 543 ईस्वी के बीच ही हुआ। संभवतः उसका शासन 535 ई0 तक समाप्त हो गया था। मंदसोर प्रशस्ति में यशोधर्मन को 'जनेन्द्र' कहा गया है। लगता है उसका पूरा नाम जनेन्द्र यशोधर्मन था और वह संभवतः औलिकरवंश से संबंधित था। रायचौधरी का अनुमान है कि यशोधर्मन ने बालादित्य के पुत्र वज्र को पराजित कर मार डाला तथा पुण्ड्रवर्द्धन के दत्तवंश का विनाश किया।[36]

वर्द्धन-साम्राज्य की स्थापना के पूर्व परवर्ती-गुप्त शासकों का भी उस समय के राजनैतिक रंगमंच पर महत्वपूर्ण भूमिका मानी गयी है। परवर्ती-गुप्त अथवा कृष्णगुप्त-वंश के इतिहास के विषय में सूचना का सबसे प्रधान साधन अफसढ़ का शिलालेख है।[37] इसमें प्रथम उत्तर-गुप्त नरेश कृष्णगुप्त के समय से लेकर आठवें नरेश आदित्यसेन के काल तक की घटनाओं का रोचक वर्णन उपलब्ध है। इस लेख में मिलने वाले नरेशो के नाम क्रमशः कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त, जीवितगुप्त प्रथम, कुमारगुप्त, दामोदरगुप्त, महासेनगुप्त, माधवगुप्त तथा आदित्यसेन हैं। प्रायः सभी शासकों के शासन काल का कोई न कोई अभिलेख प्राप्त होता है जिससे न केवल परवर्ती गुप्तों का अनुवांशिक इतिहास बल्कि तत्कालीन राजनैतिक गतिविधियो का भी ज्ञान होता है। दूसरा शाहपुर का लेख आठवें उत्तरगुप्त नरेश आदित्यसेन के समय में उत्कीर्ण कराया गया था।[38] इसी प्रकार मन्दर का लेख आदित्यसेन के शासन-काल की घटनाओं के पुनर्निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ है।[39] मंगरांव का लेख इस राजवंश के दसवें नरेश विष्णुगुप्त के समय का है।[40] देवबर्नाक के लेख मे आदित्यसेन के उपरांत तीनों नरेशो-देवगुप्त, विष्णुगुप्त तथा जीवितगुप्त द्वितीय के नाम आते हैं।[41] वैद्यनाथ धाम के मंदिर का लेख भी आदित्यसेन के समय उत्कीर्ण किया गया था।[42]

यद्यपि गुप्त नामांत से उत्तर-गुप्तों का सबंध गुप्त साम्राज्य से होने का भ्रम होता है तथापि गुप्त सम्राटों के साथ उत्तर-गुप्तों का कोई भी संबंध नहीं था। अंतर स्पष्ट करने के लिए इसे कृष्णगुप्त-वंश कहना कहीं अधिक समीचीन होगा।[43]

फ्लीट महोदय का विचार है कि उत्तर-गुप्तों का मूल-स्थान मगध था। इस मत का समर्थन रखालदास बनर्जी तथा बी0 पी0 सिन्हा ने भी किया है। इसके विपरीत कुछ विद्वानों का कथन है कि इसका आदि-स्थान मालवा था। इनमें हॉर्नले, एडवर्ड, ए0 पिएर्स, आर0 एन0 सैलेतोर, डी0 सी0 गांगुली, चिंतामणि विनायक वैद्य, हेमचन्द्र रायचौधरी तथा राधाकुमुद मुकर्जी प्रधान हैं। इस संदर्भ में यह महत्वपूर्ण रूप से उल्लेखनीय है कि महासेनगुप्त का किन्हीं अज्ञात कारणों से दुखद अंत हो जाने पर उसके दो पुत्र वर्द्धनवंश के

राजकुमारों के साथ (राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन) पोषित हुए।[44] किन्तु आगे चलकर यही इनके शत्रु बन गए।[45]

जैसा कि ज्ञोत होता है मौखरि जाति अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही थी। पाणिनी ने भी इसका उल्लेख किया है।[46] तृतीय शताब्दी के एक प्रस्तर-यूप पर अंकित लेख से ज्ञात होता है कि गया के आसपास कई मौखरि जातियाँ थीं।[47] राजनैतिक रूप से शक्तिशाली होने पर उन्होंने अपने आपको मध्य पंजाब के मद्र शासक (महाभारत) का वंशज बताया। वर्द्धन साम्राज्य की स्थापना से पूर्व उत्तर भारत के अनेक भागों में मौखरि विद्यमान थे। छठी शताब्दी ईस्वी में वे गया के आसपास के क्षेत्रों के प्रमुख शासक के रूप में देखे जाते थे[48] जिसके तीन प्रमुख शासकों के अभिलेख गया जिले के बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों से प्राप्त हुए हैं।[49]

मौखरियों का सबसे प्रधान लेख हरहा का अभिलेख है। इस लेख को चतुर्थ मौखरि सम्राट् ईशानवर्मा के पुत्र सूर्यवर्मा ने उत्कीर्ण कराया था। इसमें प्रथम चार मौखरि नरेशों की कृतियो का वर्णन विस्तार पूर्वक उपलब्ध होता है।[50]

शंकरपुर-चितवल का लेख मौखरि नरेश हरिवर्मा का है जिससे ज्ञात होता है कि हरिवर्मा सम्राट् बुद्धगुप्त का सामंत था। यह मौखरियो के दूसरी शाखा का प्रथम शासक माना गया है। इसमें हरिवर्मा के दो पूर्वजों-पिता विजयवर्मा तथा पितामह भीमवर्मा का भी उल्लेख है।[51]

मौखरियों का दूसरा प्रमुख लेख जौनपुर का लेख है जिसमें प्रथम तीन मौखरि नरेशों की कृतियो का निरूपण उपलब्ध है।[52] असीरगढ का लेख मौखरि राजवंश के पांचवें नरेश सर्ववर्मा के द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था।[53] नालंदा के अभिलेख से मौखरि कालीन सांस्कृतिक दशा का आशिंक ज्ञान प्राप्त होता है।[54] मौखरियों तथा परवर्ती-गुप्तों के पारस्परिक संघर्ष के इतिहास को समझने में अफसढ़ का लेख महत्वपूर्ण है। यह परवर्ती -गुप्तों का अभिलेख है।[55] परवर्ती गुप्तवंशीय देवबर्नाक का लेख भी मौखरियों के इतिहास के ऊपर

प्रकाश डालता है। यह परवर्ती गुप्तवंश के शासक जीवितगुप्त द्वितीय के समय में उत्कीर्ण किया गया था।[56]

हर्षचरित की रचना बाणभट्ट ने सातवीं शताब्दी मे की थी। इससे हर्ष के पूर्व की विकेन्द्रित राजनैतिक स्थिति पर प्रकाश पडता है। जिस समय मौखरि अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे उसी समय परवर्ती-गुप्त भी अपनी राजनैतिक शक्ति की समृद्धि कर रहे थे। अतः दोनों में संघर्ष स्वाभाविक था। इसमें अवन्तिवर्मा तथा ग्रहवर्मा नामक मौखरि-नरेशो का नामोल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि किस प्रकार उत्तर-गुप्तवंशी देवगुप्त नामक दुष्टकर्मा ने गौड़ नरेश शशांक की सहायता से कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया तथा अंतिम मौखरि शासक ग्रहवर्मा का वध कर दिया। इस विषम स्थिति से निपटने के लिए मौखरियों ने थानेश्वर के शासक से निवेदन किया कि उनकी सुरक्षा करते हुए वे कन्नौज को भी थानेश्वर में मिला लें।[57] आर्यमंजूश्रीमूलकल्प में भी मौखरियों के प्रसांगिक उल्लेख मिलते हैं।[58] भितौरा की मुद्राएँ मौखरि-नरेशों के तिथिक्रम के निर्धारण मे सहायक हैं।[59]

बाणभट्ट ने मौखरि वंश को 'मुखरवंश' कहा है।[60] बाणभट्ट की प्रशंसा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सातवीं शताब्दी ईस्वी के प्रारंभ तक मौखरि अत्यंत शक्तिशाली शासक थे। उन्होंने अपनी दूसरी रचना कादम्बरी में इस बात का उल्लेख किया है कि मौखरि शासक उसके गुरू की पादपूजा करते थे।[61] हरहा के लेख में मौखरि नरेशों को 'मुखराः क्षितीशाः' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि मुखर नामक व्यक्ति इस राजवश का संस्थापक था।[62] मौखरियों के प्रारंभिक लेख गया जिले से उपलब्ध हुए है।

मौखरि लोग प्रारंभ में सामंत थे। डा0 अल्टेकर का अनुमान है कि वे या तो उज्जयिनी के शक-क्षत्रपों अथवा पद्मावती के भारशिव नागों के सामंत थे। जब गुप्तों ने नागों को पराजित कर दिया तब वे गुप्तों के भी सामंत रहे।[63] 550 ई0 तक मौखरि सामंत के रूप में शासन करते रहे। जब इसके उपरांत गुप्त सम्राटों का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, उस समय मौखरियों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी।

काशी प्रसाद जायसवाल महोदय ने मौखरियों को वैश्य माना है।[64] हरहा के लेख के संपादक हीरानंद शास्त्री के अनुसार मौखरि सूर्यवंशीय क्षत्रिय रहे होंगे। इस लेख में मौखरियों की उत्पत्ति वैवस्वत से सिद्ध की गई है, जिन्हें सातवें मनु से समीकृत किया जा सकता है जो सूर्यवंशी थे। श्री एन0 रे का कथन है कि मौखरि चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे। हर्षचरित के अनुसार वर्द्धन एवं मौखरि वंश की कीर्ति क्रमशः सूर्यवंश एवं चन्द्रवंश के समान थी।[65] परन्तु व्यावहारिक रूप से मौखरियो को सूर्यवंशी क्षत्रिय मानना अधिक तर्कसंगत होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि मौखरियों का साम्राज्य-विस्तार काफी हो चुका था। यह विस्तार मध्य प्रदेश तक होने की संभावना भी व्यक्त की गई है।[66] हार्नले, चिन्तामणि विनायक वैद्य, पेटरसन, हाल, बूलर तथा रमाशंकर त्रिपाठी आदि विद्वानों ने मौखरियों की राजधानी कान्यकुब्ज में होने की पुष्टि की है। हर्षचरित तथा जौनपुर, हरहा, असीरगढ़ एवं सोहनाग के लेखों द्वारा महाराज हरिवर्मा, महाराज आदित्यवर्मा, महाराज ईश्वरवर्मा, महाराजाधिराज ईशानवर्मा, महाराजाधिराज सर्ववर्मा, महाराजाधिराज अवन्तिवर्मा, महाराजाधिराज ग्रहवर्मा-मौखरि नरेशों के नाम ज्ञात होते हैं जो प्रधान शाखा के मौखरि माने जाते हैं जिन्हें कान्यकुब्ज के मौखरि अथवा सम्राट् मौखरि भी कहा जाता है।

ग्रहवर्मा की मृत्यु के उपरांत हर्षवर्द्धन को संपूर्ण मौखरि राज्य प्राप्त हुआ, जो पश्चिम में कान्यकुब्ज से लेकर समस्त उत्तर प्रदेश एवं पश्चिमी बिहार तक फैला हुआ था। इस प्रकार वर्द्धन-साम्राज्य आकार में कई गुना विशाल हो गया। मौखरि साम्राज्य के साधनों की प्राप्ति के कारण हर्ष की प्रारंभिक समस्याएँ सुलझ गई। इन रूपों में मौखरियों के विनाश ने वर्द्धनों के भावी उत्थान के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण किया था।[67]

गुप्तों के पतन के पश्चात् और वर्द्धन-साम्राज्य की स्थापना के बीच के काल में छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बंगाल के गौड़ प्रदेश में एक ऐसी शक्ति का अभ्युदय हुआ जिन्होंने कुछ समय के लिए तत्कालीन सभी अन्य शक्तियों को भयभीत कर रखा था। गौड़ नरेश शशांक हर्षवर्द्धन का समकालीन था। बाण तथा हुएनसांग दोनों ने इसका उल्लेख किया है। हर्षचरित की एक

पाण्डुलिपि में शशांक का नाम 'नरेन्द्रगुप्त' मिलता है। इसे खोज निकालने का श्रेय इतिहासकार बुलर को है। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि शशांक ने राजवर्द्धन को झूठे शिष्टाचारों में फंसाकर मार डाला।[68] ऐसा प्रतीत होता है कि वह मौखरि नरेश अवन्तिवर्मन् का महासामन्त रहा होगा, जो उसका समकालीन था। मिदनापुर से प्राप्त दो ताम्रपत्र भी बंगाल के उपर शशाक के आधिपत्य की सूचना देते हैं।[69]

आर्यमंजुश्रीमूलकल्प से पता चलता है कि हर्ष ने सोम (शशांक) की राजधानी पुण्ड्र पर आक्रमण कर उसे परास्त किया तथा उसे उसके राज्य में ही रहने के लिए बाध्य किया।[70]

शशांक एक कट्टर शैव था। हुएनसांग के अनुसार उसने बोधगया के बोधिवृक्ष को कटवाकर गंगा में फिकवा दिया। आर० डी० बनर्जी एवं आर० पी० चन्द्रा के विचार में शशांक राजनैतिक कारण से बौद्ध द्रोही हुआ था न कि वह धर्मान्ध था।[71]

इस प्रकार हम देखते है कि प्राचीन भारत के इतिहास मे शशांक पूर्णतया असम्बद्ध एवं उपेक्षित शासक रहा है जिसके विषय में हमारी जानकारी अत्यल्प है। अंततः उसके राज्य को हर्ष ने अपने साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया।

उत्तर भारत की पूर्वी सीमा पर गौड़ की भांति ब्रह्मपुत्र की घाटी मे कामरूप भी लगभग 350 ईस्वी से 650 ईस्वी तक राजनैतिक शक्ति का केन्द्र रहा। निधनपुर ताम्रलेख, नालंदा मुद्रालेख तथा हषचरित से इस वंश के निम्नलिखित राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं:- पुष्यवर्मन, समुद्रवर्मन, बलवर्मन, कल्याणवर्मन, गजपतिवर्मन, महेन्द्रवर्मन, नारायणवर्मन, भूतिवर्मन, चन्द्रमुखवर्मन, स्थितवर्मन, तथा उनके दो पुत्र-सुप्रतिष्ठितवर्मन तथा भास्करवर्मन।[72]

वर्मनवंश की प्रतिष्ठा का संस्थापक पुष्यवर्मन था जिसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की तथा प्राग्ज्योतिष नामक स्थान में अपनी राजधानी बनायी। ईसा की छठी शती में भूतिवर्मन के राज्यारोहण के साथ वर्मनों का राजनैतिक प्रभुत्व बढ़ा। संभवतः उसने पुण्ड्रवर्धन में गुप्तों के विरूद्ध अपनी

स्वाधीनता घोषित कर दी तथा अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। निधनपुर ताम्रपत्र से पता चलता है कि उसने समस्त कामरूप पर अधिकार कर लिया।[73]

भास्करवर्मन कामरूप का अंतिम महान् राजा हुआ। वह कूटनीतिज्ञ था जिसने गौड़-नरेश के विरूद्ध अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए हर्षवर्द्धन से मैत्री करना श्रेयस्कर समझा। हर्षचरित से पता चलता है कि जिस समय हर्ष शशांक के विरूद्ध अभियान पर जा रहा था, भास्करवर्मन का दूत हंसबेग उससे बहुमूल्य उपहारों के साथ मैत्री का प्रस्ताव लेकर मिला। कुछ विद्वानों का विचार है कि उसने हर्ष की अधीनता स्वीकार कर ली तथा उसका राज्य हर्ष के प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत आ गया।[74] चीनी यात्री हुएनसांग उसके राज्य में गया था। भास्करवर्मन हर्ष के कन्नौज और प्रयाग के धार्मिक समारोहों में शामिल था।

हर्ष की मृत्यु से जो अव्यवस्था फैली उसका लाभ उठाते हुए वर्मन नरेश ने अपने राज्य का विस्तार प्रारंभ कर दिया। गांगुली के अनुसार उसने संपूर्ण गौड़ देश पर अधिकार कर लिया। भास्करवर्मन से संबंधित इन उल्लेखों से प्रतीत होता है कि तत्कालीन राजनीति में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।[75] भास्करवर्मन ने लाओत्से के ग्रंथ का संस्कृत में अनुवाद करने के लिए हुएनसांग को प्रेरित किया।[76]

उपरोक्त संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर भारत में वर्द्धन वंश के स्थापना के पूर्व ऐसी कोई केन्द्रीय सत्ता न थी जो उसे राजनैतिक सूत्र में आबद्ध कर सके। डा0 विशुद्धानंद पाठक ने सामंतवाद के उदय को इसका एक बहुत बड़ा कारण माना है।[77] सामंतवाद का सूत्रपात गुप्तों के ही समय से हो चुका था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तथा अन्य धर्मग्रंथों में सामंत का मूल अर्थ पडोसी राज्य से माना गया है।[78] सामंत शब्द का राजनैतिक अधीनता के रूप में प्रयोग छठी शताब्दी के मौखरि शासक के एक अभिलेख में सर्वप्रथम प्राप्त होता है।[79] इस अभिलेख में अनंतवर्मा के पिता को "सामंतचूड़ामणि" कहा गया है।[80] बाणभट्ट ने हर्षचरित और कादम्बरी में भी हर्ष का अभिवादन करने वाले अनेक प्रकार के सामंतों की चर्चा की है।[81]

पुनः पाल-वंश के अभिलेखों में ऐसे अनेक सामंतो का उल्लेख किया गया है जो देवपाल के स्कन्धावार में उसके साथ युद्ध के लिए तत्पर है[82]

कालान्तर में सामंत भी अपने अभिलेख मे अपने सम्राटों का उल्लेख करने लगते हैं ।[83] क्रमशः सामंतों की अनेक कोटियाँ भी हो गई। उन्हें राजा, महाराजा, राजराजानक, राजन्, राजपुत्र, ठक्कुर, सामंत, महासामंत, महासामंताधिपति और माण्डलिक जैसे विशेषण दिये जाने लगे।[84]

1-प्राचीन भारत, पृ0195, डा0 रमेशचन्द्र मजूमदार।

2-अराजन्यतया वै नो जयंति राजानं करवामह इति।

ऐतरेय ब्राह्मण, 1.14 ।

तैतिरीय ब्राह्मण, 11.2.7.2 ।

उद्घृत, स्टेट एण्ड गर्वमेन्ट इन ऐंशेन्ट इण्डिया; पृ0-75, ए0 एस0 अल्टेकर।

3-प्राचीन राजवंश और बौद्ध धर्म, पृ0-331-32, डा0 अच्युतानद घिल्डियाल।

4-चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, पृ0-4, गंगा प्रसाद मेहता।

5-प्राचीन भारत, पृ0-196, डा0 रमेश चन्द्र मजूमदार।

6-कालिदास और उसका मानवीय साहित्य, पृ0-8 डा0 अच्युतानंद घिल्डियाल।

7-प्राचीन भारत, पृ0-196-97, डा0 रमेशचन्द्र मजूमदार।

8- "साहित्य संगीतकला विहीनः।

साक्षात् पशु पुच्छविषाण हीनः" ।। नीतिशतक भर्तृहरि।

9-प्राचीन राजवंश ओर बौद्ध धर्म, पृ0-340-41, डा0 अच्युतानद घिल्डियाल।

10-प्राचीन भारत, पृ0-406-7, डा0 रमेश चन्द्र मजूमदार।

11-दी क्लासिकल एज (गुप्तवंश का विकास), पृ0 12, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

12-"ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया", पृ0-142, रोमिला थापर।

13-वही, पृ0-143 ।

14-हर्षचरित, बाण, अनुवाद-पृ0-101, कॉवेल एवं थॉमस।

15-हर्ष, पृ0-11, डा0 राधा कुमुद मुकर्जी।

16-''ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,'' पृ0-143, रोमिला थापर।

17-दी क्लासिकल एज, पृ0-61, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

18-''ए हिस्ट्री ऑॅफ इण्डिया,'' वोल्यूम-1, पृ0-143, रोमिला थापर।

19-इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली पृ0-457, उद्घृत

द क्लासिकल एज, पृ0-60, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

20-दी क्लासिकल एज, पृ0-63, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

21-वही, पृ0-63।

22-प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0-441, के0 सी0 श्रीवास्तव।

23-'' ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,'' पृ0-141, रोमिला थापर।

24-गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ0-474, यू0 एन0 राव।

25-'' ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,'' पृ0-142, रोमिला थापर।

26-''आमूल-भग्नदर्पा,'' सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृ0-301 उद्घृत, गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ0-474, यू0 एन0 राव।

27-सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृ0-398, डी0 सी0 सरकार। उद्घृत, गुप्त सम्राट् और उनका काल,पृ0 476, यू0 एन0 राव।

28-गुप्त-सम्राट और उनका काल, पृ0-478, यू0 एन0 राव।

29-वकाटक-गुप्त एज, पृ0-201, ए0 एस0 अल्टेकर तथा मजूमदार।

30-वहीं पृ0-195।

31-राजतरंगिणी-1, 306, उद्घृत, गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ0-483, यू0 एन0 राव।

32-(क) यशोधर्मन, का मन्दसोर का स्तंभलेख, श्लोक-6, उद्घृत, गुप्त सम्राट् और उनका काल पृ0-482, यू0 एन0 राव।

(ख)-वकाटक-गुप्त एज, पृ0-199, ए0 एस0 अल्टेकर तथा मजूमदार।

33-गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ0-483, यू0 एन0 राव।

34-प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0-448, के0 सी0 श्रीवास्तव।

35-वही, पृ0-448-49।

36-पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शेंट इण्डिया, पृ0-597, एच0 सी0 रायचौधरी।

37-सी0- II.III.200 ।

उद्घृत, द क्लासिकल एज, पृ0-72, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

38-गुप्त-सम्राट् और उनका काल, पृ0-452, यू0 एन0 राव।

39-वही, पृ0-452 ।

40-वही, पृ0-452 ।

41-वही, पृ0-452 ।

42-वही, पृ0-452 ।

43-वही, पृ0-453 ।

44-दि क्लासिकल एज, पृ0-74, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

45-रायचौधरी एच0 सी0, "ए नोट आन द लेटर गुप्ताज।"

जे0 बी0 ओ0 आर0 एस0-वोल्यूम-XV, पृ0-651 से 654 उद्घृत, दी क्लासिकल एज, पृ0-74, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

46-'दि क्लासिकल एज, पृ0-67, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

47-एपीग्राफिक इंडिका,XXIII, 42,XXIV , 251 उद्घृत, द क्लासिकल एज, पृ0-67, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

48-वही, पृ0-67 ।

49-वही, पृ0-67 ।

50-गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ0-424, यू0 एन0 राव।

51-गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ0-424, यू0 एन0 राव।

52-वही, पृ0-424 ।

53-वही, पृ0-425 ।

54-वही, पृ0-425 ।

55-वही, पृ0-425 ।

56-वही, पृ0-425 ।

57-"ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया," पृ0-143, रोमिला थापर।

58-गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ0-426, यू0 एन0 राव।

59- वही, पृ0-426।

60-"मौखरि सभी राज्यों के शीर्ष स्थान पर थे और अवन्तिवर्मन उसका गौरवशाली शासक था।" हर्षचरित-बाण अनुवाद, पृ0-122, कॉवल एवं थॉमस।

61-उद्घृत, दी क्लासिकल एज, पृ0-69, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

62-''हरहा के लेख में अश्वपति का उल्लेख है जिन्हें वैवस्वत के वर से सौ पुत्र उत्पन्न हुए। मौखरि इन्हीं के वंशज थे। लेकिन प्राचीन साहित्य में अश्वपति नामक कई व्यक्तियों के उल्लेख मिलते हैं। यह कहना दुष्कर है कि हरहा, लेख के अश्वपति का सबंध इनमे से किस अश्वपति के साथ है। अतः मौखरियों की उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकलता।'' गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ0-427, यू0 एन0 राव।

63-वकाटक-गुप्त एज, पृ0-40-41 ए0 एस0 अल्टेकर और मजूमदार।

64-द इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, काशी प्रसाद जायसवाल।

65-''सोमसूर्यवंशाविव पुष्यभूति मुखरवंशी''। हर्षचरित-बाणभट्ट, उद्यृत, गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ0-429, यू0 एन0 राव।

66-दि क्लासिकल एज, पृ0-69, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

67-गुप्त-सम्राट् और उनका काल, पृ0-450-51, यू0 एन0 राव।

68-प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0-492, के0 सी0 श्रीवास्तव।

69- वही, पृ0-493 ।

70(क)- वही, पृ-493 ।

(ख)- द क्लासिकल एज, पृ0-79-80, ए0 एस0 अल्टेकर तथा मजूमदार।

71-प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0-494, के0 सी0 श्रीवास्तव।

72-द क्लासिकल एज, पृ0-89, ए0 एस0 अल्टेकर तथा मजूमदार।

73-प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0-514, के0 सी0 श्रीवास्तव।

74-वही, पृ0-515 ।

75-द क्लासिकल एज, पृ0-92, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

76-प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0-515, के0 सी0 श्रीवास्तव।

77-उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (600से 1200 ईस्वी तक) पृ0-7, उत्तर प्रदेश शासन, राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन।

78-अर्थशास्त्र, कौटिल्य।

79-उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ0-8, डा0 विशुद्धानंद पाठक।

80-कार्पस इंडिकारम, वोल्यूम-48, पृ0-223, फ्लीट।

81(अ)-हर्षचरित-पृ0-100, बाण।

(ब)-कादम्बरी, पृ0-128, वासुदेव शरण अग्रवाल।

82-ए0 आई0 वोल्यूम-17, पृ0-22-23 ।

83-राष्ट्रकूट एण्ड दैट टाइम्स, पृ0-263, ए0 एस0 अल्टेकर।

84-जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, वोल्यूम-27, पृ0-389 ।

उद्यृत, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (600 ई0 से 1200 ई0 तक), पृ0-10, डा0 विशुद्धानंद पाठक।

द्वितीय अध्याय

वर्द्धन-वंश की स्थापना
एवं
साम्राज्य-विस्तार

द्वितीय अध्याय

वर्द्धन-वंश की स्थापना एवं साम्राज्य विस्तार

थानेश्वर या स्थाण्वीश्वर भारतीय इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जैसा कि सर्वविदित है कि स्थाणु शिव का एक नाम है, अतः यह शिव की उपासना का प्रमुख केन्द्र रहा होगा ऐसा अनुमान किया जा सकता है और उसी के आधार पर उसका यह नाम पड़ गया होगा जैसा कि आगत पृष्टों में इस वंश के प्रारम्भिक शासकों के संदर्भ में उल्लिखित है।[1] इसी के इर्द-गिर्द प्राचीन काल में कौरवों तथा पाण्डवों का महायुद्ध हुआ था।[2] गुप्तों के बाद स्थाण्वीश्वर का पुष्यभूति वंश भारतीय इतिहास में बड़ा ही महत्व रखता है। बुलर महोदय का विचार है कि इसे पुष्यभूति पढ़ना चाहिए क्योंकि 'भूति' इस वंश का का प्रथम व्यक्ति रहा होगा किंतु बाण पुष्यभूति शुग ही लिखते हैं।[3] छठी शताब्दी के प्रारंभ में जबकि हूणों के आक्रमण से गुप्त साम्राज्य का पश्चिमी भाग छिन्न-भिन्न हो रहा था, पूर्वी पंजाब[4] में पुष्यभूति वंश का उदय हुआ था। गुप्तों के बाद उत्तर भारत में जितने भी राजवंश स्थापित हुए, उनमें यही वंश कुछ समय के लिए विकेन्द्रीकरण की शक्तियों को रोककर एक साम्राज्य बनाने में समर्थ हुआ।

वर्द्धन वंश की स्थापना एवं उसके साम्राज्य विस्तार के संबंध में हमें साहित्य, विदेशी विवरण तथा पुरातत्व इन तीनों हीं साधनों से जानकारी प्राप्त होती है। इनका वर्णन इसप्रकार है:-

हर्षचरित की रचना सुप्रसिद्ध लेखक बाणभट्ट ने की थी तथा यह वर्द्धन-वंश के इतिहास का सर्वप्रमुख श्रोत है। इसे ऐतिहासिक विषय पर गद्यकाव्य लिखने का प्रथम सफल प्रयास कहा जा सकता है। ऐसा अनुमान है कि बाणभट्ट को हर्षचरित में वर्णित घटनाओं की प्रत्यक्ष जानकारी थी। इसकी पुष्टि हमें सम-सामयिक चीनी वृत्तों अथवा तत्कालीन अभिलेखों से भी होती है।[5] हर्षचरित की रचना बाण ने अपने छोटे भाइयों के द्वारा हर्षवृत्त

जानने की इच्छा व्यक्त करने के कारण लिखा था।[6] इसमें आठ उच्छ्वास हैं। प्रथम तीन में बाण ने अपनी आत्मकथा लिखी है तथा शेष पांच में सम्राट् हर्षवर्द्धन का जीवन-चरित लिखा गया है। इससे हमे हर्ष के पूर्वजों के विषय में भी जानकारी मिलती है। हर्ष के प्रारंभिक जीवन, राज्यारोहण, सैनिक अभियान के साथ ही साथ यह ग्रंथ हर्षकालीन भारत की राजनीति एवं संस्कृति पर भी प्रकाश डालता है।

कादम्बरी भी बाणभट्ट की ही कृति है। यह संस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास कहा जा सकता है। इसके अध्ययन से हमें हर्षकालीन सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का ज्ञान प्राप्त होता है।

आर्यमंजुश्रीमूलकल्प एक प्रसिद्ध महायान बौद्ध ग्रंथ है। सर्वप्रथम गणपति शास्त्री ने 1925 ईस्वी में इसे प्रकाशित किया था। इसमें एक हजार श्लोक हैं जिनके अन्तर्गत ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक का प्राचीन भारत का इतिहास वर्णित है। हर्षकालीन इतिहास की कुछ घटनाओ पर यह प्रकाश डालता है। इसमें हर्ष के लिए 'ह' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु इस ग्रंथ में अनेक अनैतिहासिक सामग्रियाँ दी गयी हैं। अतः इस पर बहुत अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता।

हर्ष ने स्वयं तीन नाटक ग्रंथ लिखे थे-प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागानन्द। इनसे भी तत्कालीन संस्कृति से संबंधित कुछ बातों का ज्ञान प्राप्त होता है।

चीनी-यात्री हर्ष के समय में भारत की यात्रा पर आया तथा उसने यहॉ सोलह वर्षों तक निवास किया। उसका यात्रा विवरण 'सी-यू-की' नाम से प्रसिद्ध है।[7] यह तत्कालीन राजनीति तथा संस्कृति का अध्ययन करने के लिए अत्यंत उपयोगी है। विदेशी विवरण में इसका वही स्थान है जो साहित्य में हर्षचरित का।

हुएनसांग की जीवनी की रचना हुएनसांग के मित्र ह्वी-ली ने की थी।[8] बील द्वारा इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इससे भी हर्षकालीन इतिहास से संबंधित कई महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

इत्सिंग नामक एक अन्य चीनी-यात्री का विवरण भी हर्षकालीन इतिहास के अध्ययन के लिए उपयोगी है। इसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी बौद्ध विद्वान् तक्कुसु ने "ए रेकार्ड ऑफ द बुद्धिस्ट रेलिजन" नाम से प्रस्तुत किया गया है।

पुरातात्विक अभिलेखों में बंसखेड़ा के लेख का काफी महत्व है। यह 1894 ई0 में उत्तर-प्रदेश के शाहजहाँपुर जिले में स्थित बंसखेडा नामक स्थान से मिला है जिसमें हर्ष संवत् 22 अर्थात् 628 ईस्वी की तिथि अंकित है। इससे पता चलता है कि हर्ष ने अहिछत्र भुक्ति के अंगदीया विषय के मर्कटसागर नामक ग्राम को बालचन्द्र तथा भट्टस्वामी नाम के दो भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मणों को दान दिया था।[9] इससे हर्षकालीन शासन के अनेक प्रदेशों तथा पदाधिकारियों के नाम ज्ञात होते हैं। साथ ही साथ राज्यवर्द्धन द्वारा मालवा के शासक देवगुप्त पर विजय तथा अतत: गौड नरेश शशांक द्वारा उसकी हत्या की जानकारी भी इस लेख से मिलती है।

मधुबन का लेख उत्तर प्रदेश के मऊ (आजमगढ) जिले की घोसी तहसील में स्थित है। यहाँ से हर्ष-संवत् 25 अर्थात् 631 ईस्वी का लेख मिला है। इसमें हर्ष द्वारा श्रावस्ती भुक्ति के सोमकुण्डा नामक ग्राम को दान में देने का विवरण है। लेख की अन्य बाते बसखेड़ा वाले लेख के ही समान हैं।

एहोल का लेख चालुक्य नरेश पुलकेशिन् द्वितीय का है जिसकी तिथि 633-34 ईस्वी है। इसमें हर्ष तथा पुलकेशिन् के बीच होने वाले युद्ध का वर्णन मिलता है।[10] इस लेख की रचना पुलकेशिन् के दरबारी कवि रविकीर्ति ने की थी।

हर्ष की दो मुहरें नालंदा तथा सोनपत (दिल्ली के समीप सोनीपत नामक स्थान) से प्राप्त होती है। पहली मिट्टी तथा दूसरी तांबे की है। इन

पर लेख खुदे हुए हैं जिनमें महाराज राज्यवर्द्धन प्रथम के समय से लेकर हर्षवर्द्धन तक की वंशावली मिलती है।[11] सोनपत मुहर में ही हमे हर्ष का पूरा नाम (हर्षवर्द्धन) प्राप्त होता है।[12]

डा0 प्रदीप केसरवानी ने वैश्य समुदाय पर लिखी अपनी पुस्तक में पुष्यभूति वंश और उसके प्रारंभिक शासन केन्द्र पर विशेष रूप से प्रकाश डालते हुए लिखा है कि दिल्ली और पंजाब के भू-भाग पर बसा हुआ 'श्रीकण्ठ' प्राचीन काल का एक अत्यंत समृद्धशाली जनपद था। थानेश्वर (हरियाणा प्रांत के करनाल जिले में स्थित वर्तमान थानेसर नामक स्थान) इसी के अन्तर्गत एक भू-भाग था। इसी स्थान पर पुष्यभूति नामक राजा हुआ जिसने छठीं शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ में प्रसिद्ध वर्द्धन राज-वंश की स्थापना की।[13] बंसखेड़ा तथा मधुबन के अभिलेखों एवं सोनपत और नालंदा से प्राप्त मुद्राओं से वर्द्धन-वंश के निम्नलिखित प्रारंभिक राजाओं के नाम प्राप्त होते हैं:- नरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन, आदित्यवर्द्धन और प्रभाकर वर्द्धन। प्रथम तीन शासकों के नाम के पूर्व में केवल महाराज की उपाधि दी गयी है जबकि प्रभाकरवर्द्धन के नाम के पूर्व परमट्टारक महाराजाधिराज की उपाधि दी गयी है। यद्यपि इस राजवंश के नामकरण के संबंध में बुलर महोदय का मत उद्यृत किया जा चुका है किंतु ताम्रपत्र लेखों के आधार पर यह देखा जाता है कि प्रथम शासक नरवर्द्धन के नाम के आधार पर वर्द्धन-वंश का नामकरण हुआ।[14]

वर्द्धन-वंश की उत्पत्ति के विषय में मतभेद है। चीनी यात्री हुएनसांग ने हर्ष को 'फी-शे' अर्थात् वैश्य जाति का बताया है। आर्यमजुश्रीमूलकल्प के लेखक ने भी इसकी पुष्टि की है।[15] इस आधार पर आर0 एस0 त्रिपाठी,, वी0 एस0 पाठक, यू0 एन0 घोषाल आदि विद्वान् वर्द्धनों को वैश्य जाति से संबंधित करते हैं। इसके विपरीत के0 पी0 जायसवाल, एन0 राय, पीटरसन आदि की धारणा है कि यह एक क्षत्रिय राजवंश था। हर्षचरित में पुष्यभूति-वंश की तुलना 'चन्द्र' तथा मौखरि-वंश की तुलना 'सूर्य' से की गई है।[16] एन0 राय इस आधार पर वर्द्धन -वंश को चन्द्रवंशी क्षत्रिय मानते हैं। डा0 प्रदीप

केसरवानी ने श्रीराम गोयल, शंकर गोयल एवं कुछ अन्य विद्वानों के मत का खंडन करते हुए इन्हे वैश्य के रूप ही स्थापित करने का प्रयास किया है।[17]

वर्द्धन-वंश का वंशक्रम निम्न प्रकार प्राप्त होता है-

महाकवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित के तृतीय उच्छ्वास में पुष्यभूति के जनपद और राजधानी का परिचय इस प्रकार से दिया है:-''श्रीकण्ठ'' नाम का एक जनपद था। वह पृथ्वी पर उतरे हुए स्वर्ग के समान था। वहॉ पुण्यशाली लोगों का निवास स्थान था। वहाँ ब्राह्मणादि सभी वर्ण परस्पर बडे ही प्रेम से रहते थे। वहाँ की भूमि विविध प्रकार की सुख-समृद्धि के साधनों से परिपूर्ण थी।[19]
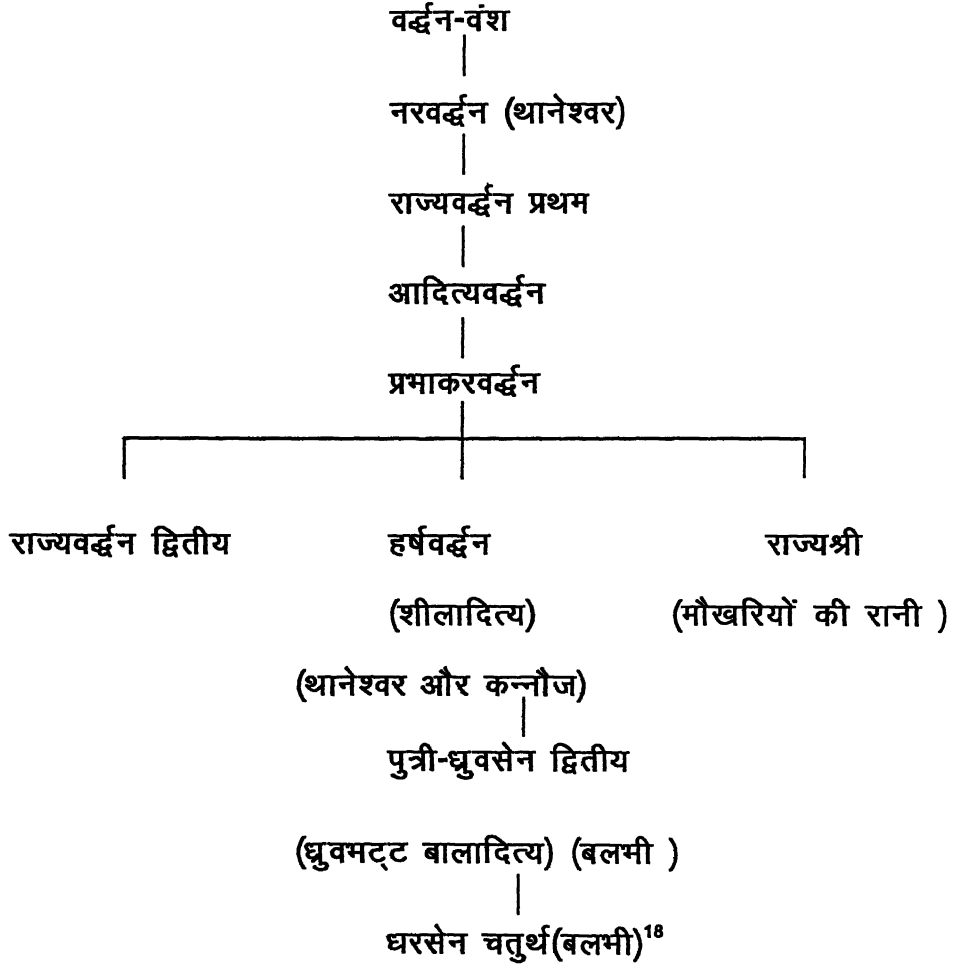
इस प्रकार हर्षचरित के उद्धरण इस बात के द्योतक हैं कि वर्द्धन-वंश का संस्थापक शिव का परम भक्त पुष्यभूति नाम का शासक था। वह संसार में शिव के अतिरिक्त किसी अन्य देवता को नहीं मानता था। वह स्वयं ही अपने हाथों से देव मंदिरों को लीपता था जिससे उसके हाथ लाल हो जाते थे। भैरवाचार्य के प्रति पुष्यभूति की अपार श्रद्धा थी। भैरवाचार्य ने पुष्यभूति को एक कृपाण भेंट की थी,, जिस कृपाण के द्वारा राजा पुष्यभूति ने वीररस से भरे होने के कारण सारी पृथ्वी को अपने हाथ में आयी समझा।[20] बाण ने पुष्यभूति को 'परमामहेश्वर' कहा जो स्वप्न में भी शिव की पूजा से पहले भोजन ग्रहण नहीं करता था।[21]

शिव की भक्ति और भैरवाचार्य की कृपा से राजा पुष्यभूति को अपने साम्राज्य के विस्तार में किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ा। शिव का परमभक्त के आधार पर वर्द्धन-वंश के प्रथम शासक पुष्यभूति के पराक्रम के प्रभाव को देखकर कभी भी उसकी राजधानी या राज्य पर शत्रुओं को आक्रमण करने का ही नहीं अपितु, उस ओर देखने का भी साहस नहीं होता था।

भैरवाचार्य की कृपा से लक्ष्मी ने प्रसन्न होकर वर्द्धन-वंश के प्रथम शासक पुष्यभूति को उसके वंश की वृद्धि के लिए इस प्रकार वरदान दिया:- 'राजन्! अपने बल के इस उत्कर्ष से और भगवान् शिव भट्टारक की असाधारण भक्ति से महान् राजवंश का तू कर्ता होगा, सूर्य और चन्द्रमा के बाद तू तीसरा स्थान प्राप्त करेगा। वह राजवंश अविच्छिन्न प्रतिदिन बढता ही जायेगा और उस वंश में प्रायः पवित्र, सभुग, यान्य, सत्य, त्याग और वीरता में समर्थ पुरूष होंगे। उस वंश में हरिश्चन्द्र के समान समस्त द्वीपों पर राज्य करने वाला चक्रवर्ती हर्षवर्द्धन नाम का राजा होगा जो दूसरे मान्धाता के समान त्रिभुवन को जीत लेने की इच्छा रखने वाला होगा।"[22]

हर्षचरित के इस उद्धरण से वर्द्धन-वंश की अभिवृद्धि के लिए लक्ष्मी का वरदान और सम्राट् हर्षवर्द्धन के चक्रवर्ती राजा होने की भविष्यवाणी की गई है। इससे हर्षवर्द्धन के साम्राज्य विस्तार की भी स्पष्ट ध्वनि मिलती है।

प्रभाकरवर्द्धन को चिरकाल तक कोई संतान उत्पन्न नही हुई। उसने संतान प्राप्ति के लिए ही सूर्य की उपासना प्रारंभ की थी। अंततः सूर्योपासना के प्रसाद स्वरूप दो पुत्र-राज्यवर्द्धन एवं हर्षवर्द्धन तथा पुत्री- राज्यश्री का जन्म हुआ।[23] राजकुमार मानो सकल राजाओं के दल को दबाने के लिए बज्र के परमाणुओं से निर्मित था।[24]

महाकवि बाणभट्ट के हर्षचरित के अनुसार ज्येष्ठ मास में, कृष्णपक्ष द्वादशी को, गोधूली के उपरांत ही जब कि निशा की यौवनावस्था प्रारम्भ हुयी,, हर्ष का जन्म हुआ।[25] इस अवसर पर राज-ज्योतिषी तारक ने घोषणा की कि मान्धाता के समय से लेकर अब तक चक्रवर्ती राजा के जन्म के लिए उपयुक्त ऐसे शुभ योग में संपूर्ण संसार में कोई दूसरा व्यक्ति नहीं उत्पन्न हुआ है।[26] इस प्रकार हर्ष ऐसे शुभ लग्न में पैदा हुए जो व्यतिपात आदि सभी प्रकार के दोषों के अभिषंग से मुक्त था और उस क्षण सब ग्रह उच्च स्थान पर स्थित थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाण ने हर्षचरित में जो कुछ भी हर्ष के जन्म से संबंधित विवरण दिया है उसके आधार पर चिंतामणि विनायक वैद्य महोदय ने महाराज हर्ष की ठीक-ठीक जन्म तिथि निश्चिय करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार ज्येष्ठ बदी द्वादशी शक-संवत् 511 (589 ई0) को 10 बजे रात्रि के समय चंद्रमा कृत्तिका नक्षत्र में था और ज्येष्ठ बदी द्वादशी शक-संवत 512 (590 ई0) में भी चंद्रमा उसी नक्षत्र में स्थित था। इन दोनों संवतों में से शक 512 अधिक संभव प्रतीत होता है; क्योंकि शक-संवत 512 में द्वादशी तिथि सूर्योदय के पश्चात् प्रारंभ हुयी थी। ज्येष्ठ बदी द्वादशी शक-सवत् 512, अंग्रेजी गणना के अनुसार रविवार, 4 जून, सन् 590 ई0 होता है।

लेकिन अनुभव के आधार पर हम देखते हैं कि इस प्रकार की ज्योतिष-गणना के आधार पर ठीक तिथि निर्धारित करना सदैव संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। विशेष कर प्रस्तुत गणना की सत्यता के संबंध में तो संदेह और भी बढ़ जाता है। क्योंकि सभी बातें ठीक-ठीक उपलब्ध नहीं हैं। जैसा कि ऊपर वर्णित है हर्ष, गोधूली के उपरांत ही जब निशा की यौवनावस्था

प्रारम्भ हुयी थी,, पैदा हुए थे। इसके आधार पर वैद्य जी 10 बजे रात्रि का समय अनुमानित करते हैं। किन्तु जो कुछ भी तथ्य उपलब्ध है उसके अनुसार जन्म काल इससे पहले ही माना जा सकता है। यदि हम जन्म का ठीक समय 10 बजे रात्रि मान भी लेते हैं तो भी किसी एक निश्चित परिणाम पर पहुँचना संभव नहीं लगता। हमारे सामने शक-सवत् 511 और 512 का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त वैद्य महोदय स्वयं भी दो संदिग्ध बातों का उल्लेख करते हैं। उपरोक्त दोनों संवतों में कृत्तिका और द्वादशी दोनों ज्येष्ठ मास में तभी पड़ती है, जब वह अमांत मास माना जाय। किंतु उत्तरी भारत की गणना के अनुसार मास पूर्णिमांत होते हैं। बाण उत्तरी भारत का रहने वाला था, अतः हम ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि उसने निश्चय ही उत्तरी भारत की गणना का अनुसरण किया होगा। बाण के अनुसार हर्ष मांधाता की भांति ऐसे लग्न में उत्पन्न हुए थे जब कि ग्रह उच्च स्थान में थे। श्री वैद्य जी का यह अनुमान और कथन कि बाण का प्रमाण ग्रहों की स्थिति के संबंध में अविश्वसनीय तथा जन्म-समय के संबंध में माननीय है, सर्वथा अनुचित एवं असंगत प्रतीत होता है। इस आधार पर हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि या तो हमें बाण की दोनों बातों को मानना होगा या दोनों को अस्वीकार करना होगा।[27]

हर्ष के जन्म के निकटतम समय का निश्चय करने के लिए हम निम्न प्रकार विचार कर सकते हैं:- राज्यश्री विवाह के समय लगभग ग्यारह वर्ष की थी। हर्ष राज्यश्री से कम से कम दो-तीन वर्ष बड़े थे। इस आधार पर राज्यश्री के विवाह के समय हर्ष की आयु 14 वर्ष की रही होगी। विवाह के पश्चात् राजा प्रभाकरवर्द्धन कुछ ही समय तक जीवित रहे। हर्ष 606 ई0 में सिंहासनारूढ़ हुए। इस प्रकार ज्ञात होता है कि जिस समय हर्ष सिंहासन पर बैठे थे उस समय उनकी अवस्था 16 वर्ष के लगभग रही होगी। निष्कर्षतः हर्ष का जन्म (606-15=)591 ई0 के परे नही हो सकता। संभव है कि उनका जन्म 1 वर्ष पूर्व ही हुआ हो।[28]

जब राजकुमार कुछ बड़े हुए तब यशोमती के भाई ने अपने पुत्र भांडी को उनकी सेवा के लिए अर्पण किया। बाद में कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त, जो मालव-राज के पुत्र थे, को उनका साथी नियुक्त किया।

यद्यपि बाण ने इन राजकुमारों एवं राजकुमारी की शिक्षा के संदर्भ में कोई विशेष चर्चा नहीं करता तथापि उन लोगों को अपनी पद-प्रतिष्ठा के अनुरूप उच्च शिक्षा अवश्य दी गई होगी। प्रो० गीतादेवी के अनुसार , यह बताना संभव नहीं है कि साधारण लोग शिक्षा से कितना लाभ उठाते थे, एवं कितने प्रतिशत लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। यहॉ पर उच्च शिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षा से है, जो बालकों को प्रारंभिक शिक्षा के स्तर को पार करने के बाद से दी जाती थी।[29] राजकुमारों को पूर्ण सैनिक शिक्षा दी गयी जिसके परिणामस्वरूप वे श्रेष्ठ सैनिक बन गए। बाण के अनुसार , "दिन-प्रतिदिन शास्त्राभ्यास के चिन्हों से उनके हाथ श्याम हो गए थे, मालूम होता था कि वे समस्त राजाओं के प्रताप रूपी अग्नि को बुझाने में मलिन हो गए थे।[30] उन्होंने अपने शरीर को खूब बलिष्ठ बनाया तथा कुशल धनुर्धारी बन गए एवं अनेक सैनिक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में दक्ष हो गए।

उन दिनों विद्यार्थियों को व्याकरण, शिल्प-विद्या, चिकित्सा-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, अध्यात्म-विद्या आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। अतः राजकुमार भी इस शिक्षा से अवगत अवश्य हुए होंगे। हर्ष तो आगे चलकर ग्रंथकर्ता हुए। बाण के 'कादम्बरी' में राजकुमार चंद्रपीड़ की शिक्षा का विवरण मिलता है। उन्हें व्याकरण, न्याय, राजनीति, काव्य, रामायण, महाभारत, पुराण आदि की शिक्षा दी गयी थी। राजकुमार चंद्रपीड की शिक्षा से हम हर्ष की शिक्षा का अनुमान कर सकते हैं।[31]

प्राचीन काल में हम प्रायः राजकुमारों को अपने पिता के साथ युद्ध में भाग लेते हुए पाते हैं। कई ऐसे राजकुमार भी हुए जिन्होंने राजा बनने से पूर्व कई महत्वपूर्ण युद्ध भी लड़े। लेकिन हर्ष के विषय में बाण ने कोई स्पष्ट जानकारी नहीं दी है। उनके अनुसार हर्ष राज्यवर्द्धन के साथ कई बार शत्रुओं के विरूद्ध युद्ध में गया था तथा कई दिनों तक सैनिक छावनी में भी रहे।

हूणों के विरूद्ध लड़ाई के समय भी हर्ष बड़े भाई राज्यवर्द्धन के साथ थे। इतिहासकारों का विचार है कि हर्ष को उनके पिता से बड़े भाई राज्यवर्द्धन की तुलना में अधिक स्नेह प्राप्त हुआ। इसके पीछे संभवतः हर्ष का सैनिक दृष्टि से योग्यता मुख्य कारण रहा हो।[32]

हर्षवर्द्धन मानवीय हृदय रखने के कारण माता-पिता की मृत्यु, बहनोई ग्रहवर्मा और भाई राज्यवर्द्धन के वध के कारण अत्यंत दुखी हो गया था क्योंकि अब उसका कोई अवलम्ब नहीं रह गया था। एकाकी जीवन से भी वह दुःखी था किंतु वंश-परम्परागत रूप में स्वामीभक्त वृद्ध सेनापति सिंहनाद ने विवेकपूर्ण पद्धति पर अनेक प्रमाणों द्वारा हर्षवर्द्धन को राजधर्म के प्रति सजग करते हुए कहा जिसका बाणभट्ट ने हर्षचरित में इस प्रकार वर्णन किया है:- "जिस मार्ग पर अपने पिता, पितामह, प्रपितामह गये हैं त्रिलोकी में उस सर्वश्रेष्ठ मार्ग की हंसी मत उड़ाओ। महापुरूषों के लिए शोक छोड़कर कुल-परम्परागत राजलक्ष्मी को इस प्रकार प्राप्त करो जैसे सिंह हिरणी को। देव! महाराज प्रभााकरवर्द्धन के देवत्व प्राप्त करने पर आश्वासन दो। शरत् कालीन सूर्य के समान राजाओं के सिर पर ललाट को पीड़ित करने वाले अपने चरण रखो।[33]

महाकवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में राजा प्रभाकरवर्द्धन के साम्राज्य-विस्तार और अद्भुत पराक्रम के विषय में इस प्रकार लिखा है:- "पुष्यभूति-वंश के राजाओं के उत्पन्न होने के क्रम में प्रभाकरवर्द्धन नाम का राजाधिराज हुआ, जिसका दूसरा नाम 'प्रतापशील' था। जो हूणरूपी हरिणों के लिए सिंह , सिन्धू देश के राजा के लिए ज्वर , गुर्जर के राजा के लिए चैन से न रहने देने वाला रोग, गान्धारराज रूपी मस्त हाथी के लिए कूटपाल नाम का ज्वर , लाट देश की चतुरता को अंत करने वाला, मालव देश की लक्ष्मी रूपी लता को काटने के लिए कुठार था जिसने राज्यभिषेक में राज्य के अंगों में लगे हुए मैल को धो डाला।[34]

हर्षचरित के इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि साम्राज्य के विस्तार के लिए प्रभाकरवर्द्धन ने हूणो, सिन्धुप्रदेश, गुर्जर , गन्धार , लाट और मालव

देश के राजाओं को जीतकर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। लेकिन पाठक महोदय का विचार है कि सिन्धु और लाट थानेश्वर से बहुत दूर थे और इस बात की कल्पना आसानी से नहीं की जा सकती कि यहाँ के शासक प्रभाकरवर्द्धन से डरते थे। अतः यह कवि-कल्पना ही माना जायेगा।[35] वंश परंपरा के अनुरूप प्रभाकरवर्द्धन के अस्वस्थ होने पर युवराज राज्यवर्द्धन ने भी अपने राज्य के विस्तार और प्रजा की सुरक्षा के लिए छोटी अवस्था में भी विशाल सेना लेकर युद्ध करने के लिए चल पड़ा।

"किसी समय राजा प्रभाकरवर्द्धन ने कवच पहनने वाली आयु वाले अपने पुत्र राज्यवर्द्धन को बुलाकर हूणों से युद्ध करने के लिए उत्तरापथ की ओर भेजा। जैसे सिंह हरिणों को मारने के लिए अपने बाल-सिंह को भेजता है। पुराने मंत्रियों और अपने में मिले हुए महासामन्तो की सहायता के साथ अपरिमित सेना को भी उसके साथ भेजा।"[36]

महाकवि कालिदास ने छोटी अवस्था के कारण उर्वशी के पुत्र आयु के द्वारा राज्यग्रहण न करने पर राजा पुरूरवा के द्वारा इस प्रकार समझाया है- "जैसे उँची जाति का हाथी का बच्चा भी दूसरे हाथियों से लड़ सकता है और छोटे सर्प के बच्चे का विष भी बड़े सर्प के ही समान भयंकर होता है, उसी प्रकार राजा का पुत्र बालक होते हुए भी पृथ्वी का उचित रीति से पालन कर सकता है क्योंकि अपने-अपने कर्तव्य पालन करने की शक्ति अवस्था से नही अपितु जाति या स्वाभाव से ही उत्पन्न होती है।"[37]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट रूप से अवगत होता है कि राजा का पुत्र छोटी अवस्था में भी अपने पराक्रम स्वरूप को धारण करके रखता है। राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन ने भी अपने बाल्यकाल में ही पिता प्रभाकरवर्द्धन के अस्वस्थ होने पर राज्य के शत्रु हूणों के प्रति बड़ी सावधानी के साथ अपना पराक्रम दिखाया है।

राज्यवर्द्धन के युद्ध के लिए प्रस्थान करने पर उसके साथ हर्षवर्द्धन भी युद्ध करने के लिए तत्पर हो जाता है किंतु कुछ पड़ाव तक जाने के पश्चात् हर्षवर्द्धन ने कुरंगक नाम के दूत को देखा और उससे पिता प्रभाकरवर्द्धन की

अस्वस्थता के विषय में जानकारी प्राप्त की और अपनी आगे की यात्र स्थगित कर शीघ्रता से राजधानी आ पहुँचा।[38] कुछ समय के पश्चात् पिता प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु हो जाने और शत्रुओं द्वारा ग्रहवर्मा की हत्या होने से दोनों भाई युद्ध करने के लिए उद्यत् हो जाते हैं किंतु राज्यवर्द्धन, हर्षवर्द्धन को राजधानी की सुरक्षा के लिए रोक देता है एवं सेनासहित युद्ध के लिए राज्यवर्द्धन चला जाता है। शत्रुओं के साथ बडे पराक्रम के साथ राज्यवर्द्धन ने युद्ध किया और विश्वासघात के कारण मारा गया। हर्षचरित के टीकाकार शंकर का विचार है कि शशांक की पुत्री से विवाह के प्रलोभन में आकर राज्यवर्द्धन अपनी सुरक्षा का ख्याल किये बिना शशांक के महल में जा पहुँचा, जहाँ भोज के अवसर पर गौड़ नरेश ने उसकी हत्या कर दी। जबकि आर0 पी0 चन्दा का विचार है कि सीमा संघर्ष में शशांक ने राज्यवर्द्धन को पराजित कर मार डाला।[39]

"हर्षवर्द्धन ने भाई राज्यवर्द्धन की मृत्यु का समाचार सुना तो राजधानी की सुरक्षा के लिए पूरा प्रयत्न कर प्रतिज्ञा करते हुए दिग्विजय के लिए सैनिकों को आज्ञा दी। दिग्विजय की आज्ञा सुनकर शत्रु सामन्तों के घरों में अनिष्ट होने लगे। यमराज के दूतों की दृष्टि की तरह कुछ ही दूरी पर यमदूतों की दृष्टियों की तरह इधर-उधर रोने लगे। दिशाओं में चारो ओर मानो नाशावस्था को प्राप्त श्री को घेर कर निरन्तर निकलती हुयी चिनगारियों से तारों की जलती हुई उल्काएँ बार-बार गिरने लगी। भयंकर हवा प्रतीहारी के समान सबके चंवर , छत्र और व्यजन का अपहरण करती हुयी प्रत्येक भवन में घूमने लगी।"[40]

हर्षचरित के इस उद्धरण से पता चलता है कि सम्राट् हर्षवर्द्धन के साम्राज्य-विस्तार और ग्रहवर्मा एवं राज्यवर्द्धन की मृत्यु का आक्रोश शत्रुओं के विनाश का कारण बन जाता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट् हर्षवर्द्धन ने अपने साम्राज्य के विस्तार , अपने पराक्रम का परिचय देने और अपने शासन की शांति और समृद्धि के लिए अत्यधिक प्रयास किया है।

महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित के सातवें उच्छ्वास में सम्राट् हर्षवर्द्धन के साम्राज्य-विस्तार के मनोभावों को इन दो श्लोंकों मे इस प्रकार स्पष्ट किया

है :- "जब वीर पुरूष प्रतिज्ञा कर लेते हैं तब उसके सामने पृथ्वी क्या है? आंगन की एक वेदी है, समुद्र क्या है? एक पनाला मात्र है, पाताल क्या है? एक स्थली है और सुमेरू क्या है? मिट्टी का एक टीला मात्र है। बाहुवीर्यशाली वीर के धनुष उठा लेने पर पर्वत जो नही झुक जाते यही आश्चर्य है , फिर शुभ्र नामधारी बेचारे कौवों के विषय में गणना ही क्या है?[41]

"कुछ दिन व्यतीत हो गये। ज्योतिषियों ने बड़ी ही लगन से गणना करके शुभ-दिन निकाला और चारों दिशाओं की विजय प्राप्ति के लिए दण्डयात्रा के योग्य मुहूर्त दे दिया। तब सम्राट् हर्षवर्द्धन ने शरत् कालीन मेघों के समान जल बरसाने वाले चांदी और कुम्भों से स्नान किया और भगवान शंकर की परमभक्ति से पूजा की। पवित्र अग्नि से हवन किया। ब्राह्मणों को स्वर्ण जटित सिंह और खुड़वाली करोड़ों गायें दान दीं।[42]

'राजा प्रभाकरवर्द्धन ने अपने बड़े पुत्र राज्यवर्द्धन को कवच पहने वाली आयु का जानकर उसे बुलाकर हूणों के साथ युद्ध करने के लिए उत्तरापथ की ओर भेजा।'[43]

इस उद्धरण से यह भी अवगत होता है कि हूणों के बढते हुए पराक्रम का दमन करने और साम्राज्य के विस्तार के लिए मंत्रियों, अधीन सामन्तों और अधिक संख्या मे सैनिकों सहित उत्तरापथ की ओर राज्यवर्द्धन को भेजा।[44] राज्यवर्द्धन के पराक्रम पर भी प्रभाकरवर्द्धन को पूर्ण विश्वास था तभी उसे उत्तरापथ भेजा गया।[45] इस उत्तरापथ की विजय यात्रा में हर्षवर्द्धन भी कुछ समय तक राज्यवर्द्धन के साथ गया था और उस हिमालय की तलहटी के जंगलों मे उसने आखेट भी किया।

हर्षवर्द्धन अभी जंगल में ही था तभी पिता प्रभाकरवर्द्धन की बिमारी की सूचना लेकर पत्र के साथ कुरंगल दूत घोड़े पर आ पहुँचा। हर्षवर्द्धन पिता की बीमारी के कारण अधिक चिन्तित रहने लगा और तीव्रगति के घोड़े पर बैठकर वापस राजधानी आया और दान-दक्षिणा देकर ब्राह्मणों को प्रसन्न किया तथा औषधियो से उपचार भी होने लगा। आयुर्वेद-शास्त्र के अष्टांगों में पारंगत सुषेन तथा रसायन नामक दो पटु चिकित्सक लाख प्रयत्न करने पर भी

महाराज को अच्छा न होते देख बिल्कुल हतोत्साहित हो गए और उन्होंने अपने भौतिक शरीर को अग्नि में भष्मसात् कर दिया।[46] किंतु मृत्यु के शाश्वत नियम को कौन परिवर्तित कर सकता है?

राजा प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् राज्यवर्द्धन ने हर्षवर्द्धन को सान्त्वना देकर मालवराज के वंश का नाश करने का निश्चय किया और राज्य की रक्षा का भार उसके ऊपर छोड़ दिया। अब बिना राजसिंहासन पर आरूढ होते हुए भी हर्षवर्द्धन ही वर्द्धन-राज्य का शासक बन गया। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित के सप्तम् उच्छ्वास के अनुसार प्रारम्भ में ज्योतिषियों से शुभ समय की गणना कर सोने के घड़ों से स्नान किया, भगवान शंकर की परमभक्ति से पूजा की,, प्रज्वलित अग्नि में हवन किया, करोडों गायें ब्राह्मणों को दान की,, पुरोहितों ने उस पर शांति का जल छिड़का। हर्षवर्द्धन के सहयोगी राजाओं ने बहुमूल्य सवारियाँ भेजी और वे राजभवन से बाहर आये।[47] इस वर्णन से उस समय के राज्यारोहण और उसके विधि-विधान का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

सैनिक प्रयाण के समय नगाड़े बजने लगे। हर्षवर्द्धन साम्राज्य के विस्तार के लिए प्रस्थान करना चाह रहा है तभी प्राग्ज्योतिष के राजकुमार का दूत हंसबेग राजद्वार पर आ जाता है और हर्ष उससे कुशल क्षेम पूछते हैं। कुछ देर के पश्चात् हंसबेग ने निपुणता के साथ कहा-'चारो समुद्र की लक्ष्मी के भाजन देव को देने योग्य सद्भाव से भरे हृदय को छोडकर लोक में और दूसरा उपहार क्या है? फिर भी एक अत्युज्वल अद्वितीय छत्र उपहार में दिया, उसके साथ ही साथ अनेक प्रकार के उपहार थे और कहा कि प्राग्ज्योतिषेश्वर के साथ कभी न मिटने वाली मैत्री चाहते हैं। यदि आपका हृदय मित्रता का अभिलाषी हो। यदि यह जानता हो कि मैत्री के नाम पर मित्र लोग दासता का ही आचरण करते हैं तो बैठे रहने से क्या? आज्ञा दीजिए तो कामरूप के आधिपति कटकमणि के खण्डों की आवाज के साथ गाढ़ आलिंगन अनुभव करें।[48]

हर्षचरित के इस प्रकार के उद्धरण इस बात के धोतक है कि कामरूप और प्राग्ज्योतिषपुर तक वर्द्धन-साम्राज्य का प्रभाव था। इससे यह भी ध्वनित

होता है कि वर्द्धन-साम्राज्य के विस्तार के लिए पहले प्रभाकरवर्द्धन, पुनः राज्यवर्द्धन ने पूरे पराक्रम के साथ साम्राज्य के विस्तार के लिए प्रयास किया। उसके पश्चात् हर्षवर्द्धन ने भी साम्राज्य के विस्तार के लिए प्रयास किया। शक्तिशाली शासकों से ही अन्य शासक सधि या मित्रता करके अच्छे संबंध स्थापित करना चाहते हैं। कामरूप और प्राग्ज्योतिषपुर के राजा ने सम्राट् हर्षवर्द्धन के पास अपना दूत अनेक मूल्यवान उपहारों के साथ भेजा था।

वास्तव में सम्राट् हर्षवर्द्धन का आश्रित संस्कृत के गधकाव्य का प्रसिद्ध महाकवि बाणभट्ट ने अपनी आँखों से सम्राट् हर्षवर्द्धन के विस्तृत साम्राज्य में जो देखा उसे सत्य तथ्यों के साथ अपनी अनूभूतियों की सही अभिव्यक्ति की है। हर्षचरित ही मुख्य रूप में हर्षवर्द्धन के शासन के विषय में जानने का सही श्रोत है। बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात् हुएनसांग के यात्रा-वर्णन भी विशेष जानकारी के आधार हैं।

प्राग्ज्योतिष के राजा के दूत हंसबेग को अनेक उपहारों के साथ विदा किया। सम्राट् हर्षवर्द्धन ने भी स्वयं शत्रु पर आक्रमण करने के लिए उस दिन से सेना का प्रयाण आरंभ रखा।''[49]

इस हर्षचरित के उद्धरण से यह भी स्पष्ट होता है कि सम्राट् हर्षवर्द्धन ने भाई राज्यवर्द्धन के जाने के पश्चात् वह भाई की आज्ञा के अनुसार अपने साम्राज्य की सुरक्षा और साम्राज्य के विस्तार के लिए कर्तव्यनिष्ठ एवं भाई राज्यवर्द्धन का आज्ञाकारी तथा उत्तराधिकारी बनकर कार्य करता रहा। उसी का परिणाम था कि हर्षवर्धन एकाकी ही थानेश्वर और कन्नौज की सुरक्षा करता रहा। ये उद्धरण साम्राज्य की सुरक्षा और साम्राज्य-विस्तार के प्रबल प्रमाण हैं। इससे यह भी अवगत होता है कि साम्राज्य-विस्तार के प्रति हर्षवर्धन बड़े-बड़े संकट पड़ने पर भी बड़े ही साहस और पराक्रम के साथ शत्रुओं से युद्ध के लिए उद्धत रहे। हर्ष के साम्राज्य में तीन प्रकार के राज्य थे-प्रत्यक्ष शासित राज्य, अर्ध स्वतंत्र राज्य तथा मित्र राज्य।

यदि सम्राट् हर्षवर्द्धन साहसी,, पराक्रमी और साम्राज्य-विस्तार का इच्छुक न होता या अपने पूर्वजों की कीर्ति का सम्मान करने वाला न होता तो

माता-पिता की मृत्यु , भाई राज्यवर्द्धन का गौडाधिपति शशांक द्वारा मारा जाना, बहनोई ग्रहवर्मा का मारा जाना और बहिन राज्यश्री के बन्दिनी बनने पर भी वह अपने साम्राज्य की सुरक्षा और विस्तार को छोड़कर दु:ख में भी अपने कर्तव्य का परिपालन नहीं करता। वास्तव में सम्राट् हर्षवर्द्धन को जीवन भर साम्राज्य के विस्तार के लिए संघर्ष करने पड़े थे। वह पिता प्रभाकरवर्द्धन और माता यशोवती [50] की मृत्यु के पश्चात् भी निरंतर संघर्ष करते हुए साम्राज्य का दूर-दूर तक विस्तार करता रहा।

हर्ष के साम्राज्य विस्तार के विषय में सुधाकर चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक "अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया" के "द एज आफ हर्ष" में सम्राट् हर्षवर्द्धन के राज्य-विस्तार के विषय में स्पष्ट किया है:- "राज्यवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् थानेश्वर से हर्ष ने अपने भाई के हत्यारे से बदला लेने के लिए सेनाओं को संगठित कर गौड़ के राजा शशांक पर आक्रमण करने के लिए उद्धत हो जाता है। अपनी प्रथम युद्ध यात्रा में कामरूप, असम के राजा भास्करवर्मन के साथ चिरसंधि कर ली।[51]

हर्षचरित के अनुरूप कामरूप के राजा भास्करवर्मन का भेजा हुआ हंसबेग नाम का दूत मैत्री का प्रस्ताव लेकर आया था और अपने साथ बहुमूल्य उपहार भी लाया था। गौड़ाधिपति शशांक से कामरूप के राजा भास्करवर्मन की भी शत्रुता चल रही थी। इसी समय हर्ष का ममेरा भाई भण्डि मिला, जो हर्षवर्द्धन के साथ सेना लेकर गया था किंतु राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद सेना लेकर आ रहा था, उसी ने राज्यवर्द्धन की मृत्यु की बात सुनायी। कान्यकुब्ज पर गुप्त नाम के व्यक्ति ने अधिकार कर लिया और राज्यश्री कारागार से निकलकर विन्ध्यांचल के वनों में सती होने के लिए भाग गई।[52]

राज्यश्री के विषय में सुधाकर चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि राज्यश्री आत्महत्या करने विन्ध्य के वनों में चली गयी। चीनी साक्ष्यों को भी चट्टोपाध्याय ने अधिक महत्व दिया है।

प्रो0 चट्टोपाध्याय ने "द एज आफ हर्ष" प्रसंग में अपनी पुस्तक "अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इण्डिया" में सबसे अधिक हर्ष की दिग्विजय का वर्णन किया

है।

पुलकेशिन द्वितीय चालुक्य-वंश का शक्तिशाली राजा था। हर्ष और पुलकेशिन में नर्मदा के तट पर युद्ध हुआ। पुलकेशिन के हैदराबाद के दानपत्र से अवगत होता है कि उसने अनेक युद्धों को जीतकर 'परमेश्वर' नाम धारण किया था।

प्रो0 सुधाकर चट्टोपाध्याय ने हर्षवर्द्धन का नेपाल तक राज्य-विस्तार माना है क्योंकि वहॉ से हर्ष कर लेता था। बुलर आदि कुछ विद्वानों ने भी इसका अर्थ निकाला है कि हर्ष ने नेपाल में विजय प्राप्त की थी। प्राचीन नेपाल का इतिहास यह बताता है कि वह हर्ष के राज्य का भाग था।

डा0 विमल चन्द्र पाण्डेय ने संक्षिप्त रूप में सभी साक्ष्यों को एकत्रित कर इस प्रकार लिखा है:-'राज्यवर्द्धन को मारने वाले शशांक के विषय में अनेक मतभेद हैं। बाण ने हर्षचरित में कहीं भी शशांक के साथ युद्ध का विवरण नहीं दिया है। मिदनापुर में ताम्रपत्र मिले हैं। डा0 मजूमदार का मत है कि इसमें एक ही तिथि 629 ई0 है। इसमें "श्री शशांकमहीपतिचतुर्जलधिमेखलाम्" लेख है। यह महत्वपूर्ण बात है कि इसमें शशांक के लिए 'श्री' शब्द का प्रयोग किया गया है, जबकि 619 ई0 के गंजाम ताम्र-पत्र में उसे 'महाराजाधिराज' कहा गया है। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि 619 ई0 और 629 ई0 के बीच शशांक की स्वतंत्रता जाती रही थी। संभवतः यह हर्ष द्वारा पराजित कर दिया गया था। इस अनुमान की पुष्टि दो साक्ष्यों से होती है :-

(क)-आर्यमंजुश्रीमूलकल्प का कथन है कि 'ह' से प्रारभ होने वाले नामधारी राजा (हर्ष) ने दुष्ट सोमनामधारी राजा शशांक को पराजित किया। इसमें कुछ मतभेद हैं। डा0 बसाक 'म्लेच्छराजये न पूजतिः' पढ़ते हैं और कहते हैं कि म्लेच्छ (पूर्वी देश) ने हर्ष का स्वागत नहीं किया और उसे वापस आना पड़ा। डा0 सुधाकर चट्टोपाध्याय कहते है कि शशांक को पराजित करने के पश्चात् हर्ष का म्लेच्छ राज्य में स्वागत हुआ और वह अपने राज्य में वापस आ गया। इस ग्रंथ से यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्षवर्द्धन ने शशांक को पराजित

किया था।

(ख)-शे-किअ-फँग-चे का कथन है कि कुमारराज (भास्करवर्मा) के सहयोग से हर्ष ने शशांक, उसकी सेना तथा अनुयायियों को नष्ट कर दिया। इससे यह भी प्रकट होता है कि भास्करवर्मन ने शशाक की राजधानी कर्ण-सुवर्ण पर अधिकार कर लिया था। संभवतः दोनों मित्रों-हर्ष और भास्करवर्मन-ने सम्मिलित रूप में शशांक पर आक्रमण कर उसे पराजित कर उसके राज्य को परस्पर बांट लिया था।

हर्ष की दिग्विजय की सूचना सि-यू-कि (हुएनसांग का विवरण) से भी मिलती है। इसमें उल्लेख है कि ''जैसे ही शीलादित्य राजा हुए उन्होंने एक बड़ी सेना एकत्र की और वे अपने भाई के वध का प्रतिशोध लेने के लिए पड़ोसी राज्यों को अपने अधीन करने के लिए चल पड़े। पूर्व की ओर जाते हुए जिन्होंने उनकी अधीनता स्वीकार नहीं की उनके साथ युद्ध करते रहे। 6 वर्षों में हर्ष ने पंच-भारत को अपने अधीन कर लिया। तत्पश्चात् अपने राज्य का विस्तार कर अपनी सेना की वृद्धि की और 30 वर्षों तक निष्कंटक राज्य किया।

चीनी लेखक मा-त्वान-लिन का कथन है कि 618 ई0 और 627 ई0 के मध्य में भारत में अशांति रही। शीलादित्य ने एक बहुत बड़ी सेना का संगठन किया और अदम्य वीरता के साथ युद्ध किया।

हर्ष की जीवनी से अवगत होता है कि उसने 643 ई0 में कॉगोद पर आक्रमण किया था।

बलभी वर्तमान गुजरात में है। जयभट्ट तृतीय के 706 ई0 के नौसारी दान-पत्र से स्पष्ट होता है कि हर्ष ने बलभी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय को पराजित किया था।

जिस प्रकार उत्तर भारत में हर्ष का शक्तिशाली राज्य था, उसी प्रकार दक्षिण भारत में चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय था। इन दोनों की सीमाओं पर लाटों, मालवों और गुर्जरों के राज्य थे।

हर्ष ने नर्मदा के दक्षिण में राज्य विस्तार करना चाहा। अतः दक्षिण भारत के चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के साथ उसका युद्ध हुआ। इसके अनेक प्रमाण हैं :- (क) महाराष्ट्र (मो-हो-ल-अ-च) का वर्णन करते हुए सि-यू-कि का कथन है कि इस समय शीलादित्य महाराज ने पूर्व से पश्चिम तक सभी राज्यों को जीत लिया था और दूर-दूर तक के प्रदेशो में आक्रमण किया था। (ख)'हुएनसांग की जीवनी' का कथन है कि शीलादित्य अपनी निपुणता और अपने सेनापतियों के निरन्तर सफलता पर अभियान करते हुए तथा आत्मविश्वास से पूर्ण होकर इस राजा (पुलकेशी) को चुनौती देने के लिए स्वयं सेना का नेतृत्व करते हुए प्रस्थान किया। (ग) 634 ई0 के एहोल अभिलेख से प्रकट होता है कि पुलकेशी ने हर्ष को पराजित कर दिया था।[53]

डा0 फ्लीट की अपेक्षा डा0 अल्टेकर का मत अधिक मान्य प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि हर्ष 630 ईस्वी और 634 ईस्वी के बीच पराजित हुआ होगा। बलमी राज्य हर्ष और पुलकेशी की सीमाओं पर था। अतः कोई भी सेनानायक बलमी से युद्ध किये बिना आगे बढ़कर दक्षिण पर आक्रमण नहीं कर सकता था।

हर्ष की जीवनी से प्रकट होता है कि हर्ष ने 643 ई0 में कांगोद अभियान किया था। एहोल अभिलेख से ऐसा भी प्रतीत होता है कि पुलकेशी का अधिकार कलिंग और कौसल पर भी था। हर्ष ने 643 ई0 में इस पर अधिकार करके पुलकेशी से अपनी पूर्व पराजय का प्रतिशोध लिया।[54]

अनेक साक्ष्यों के आधार पर हर्षचरित के समकालीन राज्यों और नरेशों के नाम प्राप्त होते हैं। इसमें कुछ हर्ष के मित्र एवं कुछ शत्रु भी थे। इनमें विशेष उल्लेनीय हैं-गौड़ नरेश शशांक, कामरूप नरेश भास्करवर्मन, बलभी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय, गुर्जर नरेश दघ द्वितीय, चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय आदि।

शशांक का नाम हर्ष के समकालीन राजाओं में प्रमुख है। हर्षचरित में उसे 'गौड़ाधिप', 'गौड़ाभुजंग' नाम से पुकारा है। हुएनसांग काचे-चाङ्, (शशांक) को कर्ण-सुवर्ण का राजा बताता है। यह इसकी राजधानी था। परन्तु

इसके वंश के विषय में विद्वानो मे मतभेद हैं। डा0 राखालदास बनर्जी , श्री गौरीशंकर चटर्जी आदि विद्वान शशांक को उत्तरकालीन गुप्तवंश का राजा मानते है। डा0 बसाक का मत है कि शशांक जयनाग का वंशज था। कुछ मुद्राओं पर भी 'जय' लिखा मिलता है। इसका उल्लेख आर्यश्रीमूलकल्प में भी हुआ है। डा0 मजूमदार ने शशांक को बंगाल के एक स्वतंत्र राजवंश का संस्थपक माना है। शशाक शैव था। भास्करवर्मन भी शैव ही था। किन्तु वह बौद्धों का भी सम्मान करता था।

हर्षचरित के लेखक बाण ने हर्ष को 'सर्वचक्रवर्तीनां' 'धीरेय' और 'चतु:समुद्राधिपति' कहा है। चालुक्य अभिलेख उसे 'सकलोत्तरापथनाथ' कहते हैं। पन्निकर का कथन है कि हर्ष ने संपूर्ण उत्तरी भारत पर अपना अधिकार कर लिया था।[55] डा0 राधाकुमुद मुकर्जी का विचार है कि हर्ष सम्पूर्ण उत्तरी भारत का प्रभुसत्ताधारी सम्राट् था।[56] थानेश्वर का राज्य हर्ष ने अपने पिता प्रभाकरवर्द्धन से प्राप्त किया था। हरियाणा के सोनीपत में हर्ष की मोहर मिली है। अत: हरियाणा प्रदेश भी हर्ष के साम्राज्य में था। राधाकुमुद मुकर्जी ने कश्मीर को हर्ष के अधीन माना है। सिन्ध प्रदेश भी हर्ष के साम्राज्य मे था। उत्तर प्रदेश में हर्ष का पूर्ण अधिकार था। बसखेड़ा और मधुबन अभिलेख भी इसे सिद्ध करते हैं। भगवान लाल इन्द्रजी,, बूलर , स्मिथ, फ्लीट आदि विद्वानों का मत है कि नेपाल पर हर्ष का अधिकार था। कामरूप भी हर्ष के साम्राज्य में था। निहाररंजन और राधाकुमुद मुकर्जी ने यह माना है। डा0 रमाशंकर त्रिपाटी का मत है कि शशाक की मृत्यु के पश्चात् संपूर्ण बंगाल हर्षवर्द्धन के अधिकार में आ गया था।[57] डा0 राधाकुमुद मुकर्जी ने हर्ष की जीवनी में लिखा है कि हर्ष ने एक बौद्ध विद्वान् जयसेन को उड़ीसा में 80 ग्राम देने का प्रस्ताव किया था कितु उसने इसे स्वीकार नहीं किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि उडीसा हर्ष के अधीन था। बलमी भी हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत था क्योंकि बलमी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय हर्ष की कन्नौज की धार्मिक सभा में सम्मिलित हुआ था।

चीन के साथ संबंध के विषय में मा-त्वान-लिन का वर्णन महत्वपूर्ण है। यह कहता है कि शीलादित्य ने मगधराज की उपाधि धारण की और एक पत्र

के साथ अपना एक दूत चीनी सम्राट् ताई-सुंग के पास भेजा था।

सामान्यतया गुप्तकालीन शासन पद्धति ही कुछ साधारण परिवर्तनो के साथ वर्द्धन शासक के काल मे प्रचलित थी। कर्मचारियों के नाम भी एक जैसे थे।[58] शासन का उच्चतम अधिकारी राजा था जो 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेंश्वर' , 'परमदेवता', 'सम्राट्,' 'एकाधिराज', 'चक्रवर्ती तथा 'सार्वभौम' आदि उपाधियो से विभूषित थे।[59] राजा अपने मंत्रियों को नियुक्त करते थे, आज्ञा-पत्र तथा घोषणा-पत्र निकालते थे, न्यायधीश का काम करते थे, युद्ध में सेना का नेतृत्व करते थे तथा अपनी प्रजा के कल्याण के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्य करते थे। राजा के निर्णय के विरूद्ध कोई अपील नहीं हो सकती थी।

प्रजा की स्थिति का पता लगाने के लिए सम्राट् दौरे पर रहते थे। उनके ठहरने के लिए अस्थायी शिविरों का निर्माण होता था जिन्हे 'जयस्कंधावार' कहा जाता था। बंसखेड़ा के लेख में वर्धमान कोटी तथा मधुबन के लेखों में कपित्थक के 'जयस्कंधावार' का उल्लेख मिलता है। एक अन्य 'जयस्कंधावार' अजिरावती नदी के तट पर मणितारा का था जहा बाण सर्वप्रथम महाराज हर्ष के दरबार में लाया गया था।[60]

राजा की सहायता के लिए मंत्रियों का एक दल था जिसे 'सचिव' अथवा 'अमात्य' कहा जाता था। हर्ष का प्रधान सचिव संभवतः भांडी तथा संधि-विग्रहिक अवंती था। हर्ष का मंत्री स्कंदगुप्त गज सेना का प्रधान था। संपूर्ण सेना प्रधान सेनापति के अधीन थी। कुंतल अश्वारोही सेना का अफसर था। बसाढ के एक मुहर में रण-भांडागार विभाग का उल्लेख मिलता है।[61] महाराज और महासांमत के अतिरिक्त दौस्साधसाधनिक, प्रमातार , राजस्थानीय, कुमारामात्य, उपरिक तथा विषयति का वर्णन मिलता है। उपरिक प्रांतों अथवा भुक्तियों के शासक थे।[62] कुमारामात्य-गण साम्राज्य के उच्चश्रेणी के कर्मचारी थे। यह पद सामान्तया युवराज या राजकुमार के समान होता था।[63] राजा के प्रधान अमात्य साधारणतया बड़े-बड़े सामंत होते थे। स्कंदगुप्त, ईशरगुप्त हर्ष के अमात्य, महाराजा, सामंत अथवा महासामंत थे।

संभवतः फौजी और दीवानी कर्मचारियों के बीच कोई भेद नहीं किया गया था। केन्द्रीय शासन का महत्वपूर्ण अंग लेखा विभाग था। पुरोहित भी एक प्रधान व्यक्ति था। आयुक्तक विषयपति अथवा जिलाधीश के पद पर काम करते थे। 'भोगपति' का काम कर-संग्रह था।

सारा साम्राज्य अनेक प्रातों में विभक्त था जिन्हें भुक्ति, देश आदि कहते थे। प्रत्येक प्रांत जिले में बंटा था जो प्रदेश अथवा विषय कहलाते थे। भुक्तियों पर उपरिक महाराजा शासन करते थे जो राजकुल के राजकुमार होते थे। सीमांत प्रदेश के शासक 'गोप्ता' कहलाते थे। प्रांतीय शासकों तथा जिले के हाकिमों की सहायता के लिए दांडिक, चौरोधरणिक, दंडपाशिक आदि कर्मचारी थे। नगरश्रेष्ठी, नगर के पूंजीपति वर्ग का प्रधान, सार्थवाह कारखाना दल का नेता, प्रथम कुलिक साहूकारों के संघ का प्रधान तथा प्रधान शिल्पी भी थे। प्रथम कायस्थ संभवतः लेखक वर्ग का प्रतिनिधि था।[64] पुस्तपाल का काम लेखा करना था।

शासन का सबसे छोटा विभाग गांव था। गांव के प्रतिष्ठित लोगों को 'महत्तर' कहा जाता था। दामोदरपुर के ताम्र-पत्रों से गाव के प्रशासन से संबंधित कर्मचारियों के दो वर्ग की चर्चा है :-एक तो अष्टाकुलाधिकरण और दूसरा ग्रामिक। चाट और भाट नामक कर्मचारियों का भी वर्णन है। ये ग्राम-निवासियों के साथ बुरा व्यवहार करने के लिए बदनाम थे। संभवतः चाट पुलिस के कर्मचारी थे जबकि भाट सैनिक होते थे जिन्हे सैनिक कार्यों से छुट्टी रहती थी। आय के साधारण साधनों में उद्रंग, उपरिकर , वात, भूत, धान्य, हिरण्य, आदेय आदि करों का वर्णन है।

राज्य के मंत्रियों तथा साधारण कर्मचारियों को पारिश्रमिक रूप में जागीर दी जाती थी। फौजदारी का शासन कठोर था। राजद्रोह के लिए उम्रकैद था। सामाजिक सदाचार के प्रतिकूल कार्य करने पर एक कान, एक हाथ, एक पैर या नाक इन चारों में से किसी को काट लिया जाता था। निर्वासन का भी प्रावधान था जुर्माने का भी प्रचलन था। अपराध परीक्षण के लिए 'दिव्य परीक्षाएँ' ली जाती थी। हुएनसांग लिखता है कि, "शासन का काम सच्चाई के साथ किया जाता है और लोग सुलह के साथ मिलकर रहते

हैं।

हुएनसांग राज्य में विद्यमान नील-पिट का भी उल्लेख करता है। इनमे राज्य में घटित अच्छी-बुरी सभी घटनाओ का ब्यौरा संरक्षित रहता है। महाक्षपटलाधिकृत लेखा-विभाग का अधिकारी था। देवहूति का मत है कि गुप्तो की भांति हर्ष ने भी रहसि-नियुक्त (निज सचिव) की नियुक्ति की होगी।[65] न्यायालय को अधिकरण अथवा धर्माधिकरण कहते थे। कुछ विद्वानों ने हर्षचरित में उल्लिखित 'वाक्यविदाधिकरणाविचार' से वकील की कल्पना की है।[66]

हुएनसांग के अनुसार सेना के चार अंग-पैदल, अश्वारोही,, गजारोही और रथी थे।[67] बंसखेड़ा और मधुबन लेखों में हर्ष की नौसेना का भी उल्लेख है।[68] राज्य की आय का मुख्य साधन भूमिकर था जो उपज का छठा भाग होता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्द्धन वंश की स्थापना एवं साम्राज्य-विस्तार में सम्राट् हर्षवर्द्धन का विशेष योगदान रहा है। यद्यपि परिस्थितियां विपरीत थीं तथापि हर्ष ने विवेक एवं साहस का परिचय देते हुए सम्राट् के पद की गरिमा को कायम रखने का भरसक प्रयास किया। इसका आभास हमें निम्न वर्णन से भी स्पष्ट हो जाता है। सम्राट् हर्षवर्द्धन के हृदय में भाई राज्यवर्द्धन के मारे जाने पर इतनी पीडा थी कि वह बहिन राज्यश्री के मिलने पर बौद्ध भिक्षु आचार्य दिवाकर मित्र से अपने मन की सही स्थिति इस प्रकार बताता है :- "सब कुछ छोड़कर अनेक कष्टों से दुखी मेरी इस छोटी बहिन का लालन-पालन करना मेरा कर्तव्य है किन्तु भाई के वध का प्रतिशोध लेने के लिए मैं सभी लोंगों के समक्ष प्रतिज्ञा के भार से हल्का न हो जाऊॅ, पिता की मृत्यु से व्याकुल प्रजा को सान्त्वना न दूँ, तब तक मैं चाहता हूँ कि आप मेरी बहिन को बुद्ध भगवान् के सिद्धांतों को समझाते रहें।[69]

इस उद्धरण से यही अवगत होता है कि हर्षवर्द्धन को राज्य के शत्रुओं, राज्य की सुरक्षा, राज्य-विस्तार और शांति-व्यवस्था की बहुत बड़ी चिंता थी

जिससे हर्ष ने बहिन राज्यश्री को निश्चिंत होकर आचार्य दिवाकर के पास छोड़ दिया। अपने उद्देश्य की पूर्ति होने के लिए सम्राट् हर्षवर्द्धन ने कितना कष्ट झेला होगा, शक्ति व्यय की होगी। उन्होंने शक्तिशाली शशांक को मारकर सांस ली। इस प्रकार के साहसी कार्यों से यह भी परिलक्षित होता है कि हर्षवर्द्धन ने अपने पराक्रम से राज्य-विस्तार किया और शत्रुओं को अपने अधीन किया।

गद्यकाव्य के प्रसिद्ध महाकवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित के आठवे उच्छ्वास के अंत में सम्राट् हर्षवर्द्धन की दिग्विजय के विषय में स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार लिखा है :- "संध्या का समय जैसे ही समाप्त हुआ वैसे ही रात सम्राट् हर्षवर्द्धन के लिए चन्द्रमा का उपहार लेकर आई, मानो अपने कुल की कीर्ति का साक्षात् अपरिमित यश के प्यासे उसके लिए संगमरमर का मधुपात्र लाई हो अथवा स्वयं राजलक्ष्मी सत्ययुग की स्थापना के लिए उद्यत उसके लिए चांदी की गोल 'शासन मुद्रा' लायी हो। अथवा सम्राट् हर्षवर्द्धन के भाग्योदय की अधिष्ठायी देवी ने सब द्वीपों की दिग्विजय के लिए कूच करते हुए उस की सेवा में श्वेत द्वीप का प्रतिनिधि दूत भेजा हो।"[70]

हर्षचरित वास्तव में पहला गद्यकाव्य है जिसमें बाणभट्ट ने अपना और सम्राट् हर्षवर्द्धन के संपूर्ण वंश का पराक्रमी इतिहास का वर्णन किया है। इस वर्णित उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट् हर्षवर्द्धन की दिग्विजय ने उसके पराक्रमी प्रभाव से सभी शासकों को भयभीत करके अपने अधीन कर दिया था। शांतिमय वातावरण होने के पश्चात् ही सम्राट् हर्षवर्द्धन ने अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। विशेष रूप से शिक्षा के विकास के क्षेत्र में नालंदा विश्वविद्यालय का पुनरोद्धार और एक सच्चे त्यागी आदर्श शासक के रूप में 'प्रयाग दान महोत्सव' विशेष उल्लेखनीय है।

जीवन के प्रारंभ और जीवन के मध्य भाग में वास्तव में सम्राट् हर्षवर्द्धन को पारिवारिक दुःखों के कारण अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा और पुनः अपने साम्राज्य और ग्रहवर्मा के साम्राज्य की सुरक्षा एवं अभिवृद्धि करने में शत्रु राज्यों से कठोर संघर्ष करके अपने साम्राज्य का सुदूर भाग तक विस्तार कर वहां के शासकों को अपने अधीन किया। यह सब हर्षवर्द्धन की रणकुशलता,

सैन्य संगठन, नीति निपुणता, आदर्श शासक और त्यागमय जीवन के परिचायक है।

राज्यवर्द्धन और सम्राट् हर्षवर्द्धन के विषय में हर्षचरित एव अन्य ऐतिहासिक श्रोतों के आधार पर यह स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है कि दोनों भाई आजन्म अविवाहित रहे। सम्राट् हर्षवर्द्धन तो अपने जीवन में बहिन राज्यश्री के साथ प्रयाग में प्राचीन भारतीय परम्पराओं के अनुरूप कर्तव्यों का अनुपालन करता रहा।

सम्राट् हर्षवर्द्धन के बौद्ध धर्म को अपनाने या उसके प्रति विशेष अनुराग होने के कारण कन्नौज मे एक महासभा का आयोजन किया। इस कन्नौज की महासभा के अनेक प्रमाण भी मिलते हैं। बौद्ध धर्म में विशेष अनुराग रखने के कारण यहाँ महासभा बुलायी। सम्राट् हर्षवर्द्धन अपने साम्राज्य का विस्तार और पूर्णरूप से उसकी सुरक्षा करके अपने शत्रु राज्यों को परास्त कर एवं अनेक राज्यों को अपने पराक्रम से अपने अधीन कर चुका था। अपनी दिग्विजय में पूर्ण सफलता मिलने और शत्रुओं को परास्त करके अपनी विजय की सफलता पर भी इस महासभा का अपनी राजधानी में आयोजन किया था। "यह महासभा अपने साम्राज्य के विस्तार करने के उपलक्ष्य में ही आयोजित किया गया था तथा इसमें अपने मित्र राज्य और विजित राज्यों के राजाओं को भी आमन्त्रित किया गया था। इस महासभा में आमंत्रण पर भाग लेने के लिए अनेक राज्यों के राजा अपने-अपने साथ सुयोग्य और धर्म के मर्म को जानने वाले विद्वानों को भी लेकर आये थे। सभी ने उपहार के रूप में भी बहुमूल्य वस्तुएँ चढ़ाई।"[71] इस महासभा में आमंत्रण पर उपस्थित होने वाले सभी राजा युद्ध में अधीनता स्वीकार करने वाले थे या सम्राट हर्षवर्द्धन के साम्राज्य के अधीन थे। तभी उन्होंने कन्नौज की महासभा में अनेक प्रकार के बहुमूल्य उपहार भेंट किये। पूर्व वर्णित उद्धरण इस बात के सूचक हैं कि सम्राट् हर्षवर्द्धन ने अपने साम्राज्य के विस्तार में अपने पराक्रम का अच्छा परिचय दिया और इसके साथ ही साथ विजित राज्यों के राजाओं के साथ अपने औदार्य स्वाभाव का भी अच्छा परिचय दिया है क्योंकि सभी के साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार किया है।

प्रयाग दानोत्सव के अवसर पर भी सम्राट् हर्षवर्द्धन के साम्राज्य-विस्तार के विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं क्योंकि अति प्राचीन काल से प्रयाग में महाकुम्भ आदि पर्वों में दान देने की बहुत पवित्र भूमि मानी जाती थी और संपूर्ण भारत के राजा, महाराजा और धनवान् दान करने के के लिए एकत्रित होते थे।

सम्राट् हर्षवर्द्धन ने भी अपने एकाकी जीवन में अनुभव किया कि "अत्यधिक धन एकत्र करके मुझे सदा यह भय बना रहता है कि यह धन सुरक्षित नहीं है परन्तु जब मै उस धन को दान कर देता हूँ तभी मुझे परम शांति प्राप्त होती थी,, मैं हर्षवर्द्धन चाहता हूँ कि मैं अगले जन्मों में भी इसी प्रकार एकत्र किये हुए धन को मानवमात्र के लाभ के लिए दान करता रहूँ।"

प्रजा हितचिन्तक सम्राट् हर्षवर्द्धन अपने मानवता के गुणों से प्रभावित होकर पाँच वर्ष में जो धन अपने स्थायी कोष में एकत्रित करता था उसे प्रयाग-दानोत्सव के पाँच वर्षीय योजना में बडी उदारता के साथ सत्पात्रों मे बांट देता था प्रश्न यह उठता है कि जब सम्राट् हर्षवर्द्धन अपने शरीर में पहने मूल्यवान रत्न और वस्त्र भी दान कर देता तो क्या प्रजा को कर के रूप में उत्पीड़न कर धन एकत्र करता था? अन्'यथा उसके पास पुनः साम्राज्य के संचालन, सुरक्षा और सैनिकों को वेतन देने के लिए धन कहाँ से आ जाता था?

प्रयाग-दानोत्सव में सम्राट् हर्षवर्द्धन तीन मास तक निरन्तर दान करते-करते अपना सर्वस्व भी दान कर देता था। यहाँ तक कि अपने शरीर का वस्त्र भी दान कर देता था और उसकी बहिन राज्यश्री उसे पुनः अपना वस्त्र देती थी। वास्तव में नीतिशास्त्र के ज्ञाताओं ने धन की तीन गतियाँ निर्धारित की हैं:- उपभोग करना, दान देना और ऐसा न करने पर उस धन की,, गति बहुत कष्ट कारक होती है। चोर उसे अपहरण कर लेते हैं। अतः सम्राट् हर्षवर्द्धन ने उपभोग के पश्चात् प्रजा के हित में वह धन दान करना ही सबसे उत्तम समझा।

प्रयाग दान महोत्सव में समस्त कोष के समाप्त होने पर सम्राट्

हर्षवर्द्धन ने जिस विजित राजाओं को प्रयाग दान महोत्सव में आमंत्रित किया होता था, वे सभी अधीनस्थ राजा अपना धन और रत्नादि सम्राट् हर्षवर्द्धन को उपहार में देकर उसकी क्षतिपूर्ति कर देते थे। इससे सम्राट् हर्षवर्द्धन के साम्राज्य-विस्तार और विजित राजाओ के साथ किये गये मानवीय सद्व्यवहार का भी अच्छी प्रकार से परिचय प्राप्त होता है।

"प्रयाग दानोत्सव के समाप्त हो जाने पर वहाँ उपस्थित राजाओं ने अलग-अलग जनता में अपने-अपने धन का दान कर सम्राट् हर्षवर्द्धन के हार , मुकुट, मणि एवं राज्यपरिधान खरीद लिए और उन्हें पुनः सम्राट् हर्षवर्द्धन को भेंट कर दिया। कुछ दिनों के पश्चात् फिर वे चीजें भी दान दे दी गयी। इस प्रकार यह अनोखा प्रयाग दान महोत्सव समाप्त हुआ, जिसे हर्षवर्द्धन अपने पूर्वजों के अनुकरण पर प्रति पांचवें वर्ष मनाया करता था। यह सम्प्रट् हर्ष के शासनकाल का छठां दान समारोह था।"[72]

सम्राट् हर्षवर्द्धन का सारा जीवन संघर्ष और साम्राज्य के विस्तार में ही लगा रहा। भाई राज्यवर्द्धन की मृत्यु और बहिन राज्यश्री की चिंता में ही वह अधिक समय तक चिंतित और व्यथित रहा। उसके पश्चात् शासन का विस्तार और सुरक्षा में व्यस्त रहा। उसे अपने विषय में सोचने का सुयोग ही नहीं मिला तथा अपना शेष जीवन शासन की सुरक्षा और सेवा में ही समर्पित कर दिया था।

ऐसा जान पडता है कि सम्राट् हर्षवर्द्धन ने अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा था। फलतः हर्षवर्द्धन की राजगद्दी पर उसका मंत्री अर्जुन अथवा अरूणाश्व बलात् बैठ गया। चीनी पुस्तकों मे अर्जुन और वांग-ह्वेन-त्से के मध्य में हुयी वार्ता में कहा जाता है कि अर्जुन ने वांग-ह्वेन-त्से के नेतृत्व में आने वाले चीनी दूतमण्डल की सम्पत्ति लूट ली और उसके कुछ रक्षकों को मार डाला। वांग-ह्वेन-त्से तिब्बत भाग गया।"[73]

पन्निकर आदि कुछ विद्वानों का विचार है कि राज्यवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् उसकी कोई सन्तान अवश्य रही होगी,, जिसके कारण हर्षवर्द्धन राज्य ग्रहण करने में इतना संकोच कर रहा था। परन्तु उनके विचार भ्रामक प्रतीत

होते हैं क्योंकि राजा प्रभाकरवर्द्धन की बीमारी से पूर्व यदि राज्यवर्द्धन का विवाह हो गया होता तो हर्षचरित में बाणभट्ट ने इसका उल्लेख अवश्य ही किया होता। बाणभट्ट के हर्षचरित के अध्ययन से यह भी अवगत होता है कि प्रभाकरवर्द्धन जैसे ही अपनी पुत्री राज्यश्री के विवाह से निश्चिंत हुआ था उसके ठीक पश्चात् राज्यवर्द्धन युद्ध के लिए प्रस्थान कर देता है। उसके युद्ध के लिए जाने पर राजा प्रभाकरवर्द्धन अधिक बीमार हो जाता है और उसके पश्चात् प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु, यशोमती का सती होना एवं उसके पश्चात् दोनों भाइयों को सान्त्वना देना, उसी समय बहिन राज्यश्री के पति ग्रहवर्मा की मृत्यु एवं शशांक द्वारा राज्यवर्द्धन का वध। अतः ऐसी विषम परिस्थिति में शोक और चिंता के अतिरिक्त राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन के पास विवाहादि शुभकार्य करने के लिए समय ही नहीं था। अतः इस सम्बंध में पन्निकर सदृश्य विद्वानो के विचार युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते। बेचारा हर्षवर्द्धन अपनी ऑखों के सामने कई दुर्घटनाएँ और मृत्यु देख चुका था। इससे जगत् के प्रति उसके मन में वास्तविक घृणा हो चुकी थी। श्री सी0 वी0 वैद्य का विचार भी राज्यवर्द्धन के पक्ष में है जो युक्तिसंगत प्रतीत होता है।"[74]

पन्निकर और डा0 स्मिथ के विचार से हर्षवर्द्धन के विरोधी राज्य के कई सरदार और सामंत भी हो चुके थे किंतु यह भावना उनकी कल्पनामात्र है। यदि यह विचार सत्य होते तो सम्राट् हर्षवर्द्धन जब शशांक पर आक्रमण करने और अपने भाई के हत्यारे से बदला लेने के लिए निश्चय करता है, उस समय समस्त सामंत और सरदार एकमत होकर हर्षवर्द्धन का साथ नहीं देते, बल्कि उसके कार्य में बाधा डालकर उसकी शक्ति का अवरोध कर शत्रु पक्ष से मिल जाते। अतः ये सब घटनाएँ अनुमानित और कल्पित प्रतीत होती हैं।

अपने प्रारंभिक जीवन में सम्राट् हर्षवर्द्धन ने अपने पिता प्रभाकरवर्द्धन और भाई राज्यवर्द्धन के पराक्रम से वीरता सीखी एवं उनके उदार गुणों को अपनाकर अपने जीवन का उद्देश्य प्रजा की रक्षा, साम्राज्य विस्तार और सेवा करना समझा। सम्राट् हर्षवर्द्धन ने पिता और भाई की मृत्यु के पश्चात् अपने मन के समस्त प्रकार के दुःखों को दूर करके वह राज्यश्री बहिन की रक्षा, साम्राज्य विस्तार और पूर्ण समर्पण की भावना से प्रजा की सेवा में लग गया था। इसका विस्तृत विवेचन अन्तिम अध्याय हर्षवर्द्धन के शासन काल का

मूल्यांकन में किया गया है।

राज्यवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् राज्य के मंत्रियों ने उसके छोटे भाई हर्षवर्द्धन को गद्दी पर बैठने का निमंत्रण दिया। हर्षवर्द्धन शिलादित्य नाम से भी प्रसिद्ध था। कुछ समय तक तो दरबार में लोग हर्षवर्द्धन को यह पद प्रदान करते हुए झिझके और युवक हर्षवर्द्धन भी इस अवसर पर राज्य के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने मे सहमा किंतु शासन-सत्ता हस्तगत् करने के पश्चात् उस उत्साही युवक ने अदम्य साहस और सैनिक योग्यता प्रदर्शित की जिससे शंकित लोगों का संदेह दूर हो गया।

हर्षवर्द्धन ने शशांक से प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा की और उसके विरूद्ध एक विशाल सेना भेजी। शशांक की बढ़ती हुयी शक्ति से भयभीत कामरूप के शासक भास्करवर्मा ने उससे मैत्री रूप में संधि कर ली। बहिन राज्यश्री की रक्षा करता हुआ हर्षवर्द्धन गंगा के तट पर अपनी सेना से जा मिला और वहॉ से शशांक को पराजित करता हुआ भाई की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के निमित्त उसने पूर्व की ओर विजय यात्रा प्रारंभ की। अपने इस सैनिक अभियान में वह सफल रहा और उत्तरी भारत का बहुत बड़ा भाग उसने जीत लिया। हुएनसांग ने लिखा है कि छः वर्षों तक हर्षवर्द्धन निरंतर युद्ध करता रहा और उसने बहुत बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लिया। अपने साम्राज्य का विस्तार कर उसने अपनी सेना की वृद्धि की। उसकी गजसेना बढ़कर 60 हजार और अश्वसेना एक लाख हो गई थी। इस साम्राज्य-विस्तार के पश्चात् सम्राट् हर्षवर्द्धन ने 30 वर्षों तक शस्त्र उठाये बिना राज्य किया।[75]

सम्राट् हर्षवर्द्धन ने देश में एक सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने में किसी भी प्रकार की कमी नहीं की। वह एक सुशासक बनकर स्वयं राज्य कार्य देखता था एवं वह स्वयं सही जानकारी के लिए निरीक्षण करता हुआ समस्त साम्राज्य में परिभ्रमण करता था। इस समय (छठी-सातवीं शताब्दी में) तक मौर्य कालीन शासन-व्यवस्था बहुत उपयोगी नहीं रह गयी थी। अतः हर्ष इस उद्देश्य से व्यापक यात्राओं को महत्व दिया जो शासक के रूप में नहीं बल्कि एक कर्तव्य परायण निरीक्षक के रूप में वो यह जान सके कि शासन के सभी

अंग ठीक से कार्य कर रहे हैं अथवा नहीं।[76] उसका नागरिक शासन उदार सिद्धांतों के आधार से संचालित होता था। जो कुछ भी हो किंतु सम्राट् हर्षवर्द्धन वास्तव में गुप्त-साम्राज्य के पश्चात् भारत का एक महान् विजेता और शक्तिशाली सम्राट् था। उसने अपने रचनात्मक कार्यों के द्वारा चिरस्थायी ख्याति प्राप्त की।

सम्राट् हर्षवर्द्धन में कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जो अन्य भारतीय शासकों में नही देखी गई हैं क्योंकि वह प्रजा की पीडा और आवश्यकताओं को अच्छी प्रकार से समझता था। उसने अपने आदर्श जीवन को कभी भी विलासी नहीं बनाया एवं अपने लिए करों से धन एकत्रित कर प्रजा का उत्पीड़न नहीं किया। यहाँ तक कि वह पाँच वर्ष तक अपने कोष में एकत्रित धन को प्रयाग दानोत्सव में सत्पात्रों में वितरित कर देता था। साम्राज्य के विस्तार, सुरक्षा और सुव्यवस्था में सम्राट् हर्षवर्द्धन ने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था।

वास्तव में यदि निष्पक्ष भाव से सम्राट् हर्षवर्द्धन के साहस, धैर्य, उपकार, मानवीय सेवा और सहिष्णुता पर चिन्तन किया जाये तो यह अवगत होता है कि उसने अपने पूर्वजों के आचरण का अनुकरण कर ग्रहवर्मा और राज्यर्द्धन के वधकों को मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर प्रजा की सुरक्षा और सुव्यवस्था के लिए अपने साम्राज्य का विस्तार कर साम्राज्य में सुख, शांति, समृद्धि और विकास के लिए अनेक जन-कल्याणकारी कार्य किये है। जब तक सम्राट् हर्षवर्द्धन जीवित रहा तब तक शत्रुओं को उसके साम्राज्य पर कुदृष्टि डालने का साहस न हो सका।

1-स्थाणु का अर्थ एक ओर जहाँ स्थायित्व का बोध कराता है वहीं दूसरी ओर इसका तादात्म्य 'शिव' से भी किया जाता है जो पेड़ की जड़ की तरह स्थिर है। ए0 एस0 आई0 आर0 सी0, वोल्यूम- पृ0-212)। इस तरह का वर्णन काव्य साहित्य में मिलता है। महाभारत और हरिवंश पुराण में भी इसका वर्णन ग्यारह में एक रूद्र के रूप में किया गया है। महाभारत में भी 'स्थाणुतीर्थ' को 'स्थाणुवाटा' के रूप में वर्णित किया गया है। (सल्या, चैप्टर-54, वाना, चैप्टर-

83)। संस्कृत साहित्य में भी 'स्थानवस्त्रमा-महात्माया' का वर्णन मिलता है। 'वामनपुराण में 'स्थाणी विश्वारा' को शिव के लिंग से जोड़ा गया है तथा 'स्थाणी विश्वारा' को लिंगपूजन के लिए पहली बार स्थापित किया गया था। (ज्योग्राफिकल डिक्सनरी ऑफ एन्शेंट एण्ड मेडिवल इंडिया-नंदलाल डे , दूसरा संस्करण, लुसक एण्ड कं0, लदन, 1927, पृ0-194) बाण ने भी इसे 'स्थाणी विश्वारा' के रूप में वर्णन किया है। एच0 सी0 सी0 टी0 एच0 पृ0-81- हर्षचरित, कानेस संस्करण, काण्टो, 3, पृ0-43, उद्यृत, हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-76, बैजनाथ शर्मा।

2-उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ0-24, डा0 विशुद्धानंद पाठक।

3-हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-1, डा0 बी0 एन0 श्रीवास्तव।

4- वही, पृ0-1 ।

5-उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ0-20, डा0 विशुद्धानंद पाठक।

6-वही, पृ0-21 ।

7-उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ0-24, डा0 विशुद्धानंद पाठक।

8-वही, पृ0-25 ।

9-वही, पृ0-22 ।

10-वही, पृ0-23 ।

11-वही, पृ0-23 ।

12-हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-1, डा0 बी0 एन0 श्रीवास्तव।

13-प्राचीन भारत में वैश्य समुदाय की स्थिति और उसकी भूमिका (प्रारंभ से लेकर 1200 ईस्वी तक), पृ0-72, डा0 प्रदीप केसरवानी।

14-हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-5, डा0 बी0 एन0 श्रीवास्तव।

15-उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ0-26, डा0 विशुद्धानंद पाठक।

16-सोमसूर्यवंशाविवपुष्यभूतिमुखरवंशो।

हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास, बाणभट्ट।

17-प्राचीन भारत में वैश्य समुदाय की स्थिति और उसकी भूमिका (प्रारम्भ से लेकर 1200 ईस्वी तक), पृ0-71, डा0 प्रदीप केसरवानी।

18-भारत का वृहत् इतिहास, पृ0-224, रमेशचन्द्र मजूमदार , हेमचन्द्र रायचौधरी, कालिकिंकर दत्त।

19-नामाभिहार इव कुबेर नगरस्य, स्थाण्वीश्वराख्यो जनपदविशेषः यस्तपोवनमिति मुनिभिः, कामायनमिति वेश्याभिः, संगीतशालेति लासकैः, वीरक्षेत्रमिति शस्त्रोपजीविभिः, लाभभूमिरिति वैदेहकैः -हर्षचरित तृतीय उच्छ्वास स्थाण्वीश्वर जनपद वर्णन, बाणभट्ट।

20-नृपश्व प्रकृत्या वीररसानुरागी तेन कृपाणोनामन्यत करतलवर्तिनीं मेदिनीम्- हर्षचरित तृतीय उच्छ्वास, भैरवाचार्य वर्णन, बाणभट्ट।

21-हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-93, डा0 बैजनाथ शर्मा।

22-अनेक सत्वोत्कर्षेण भगवच्छिवभट्टारक भक्त्या चासाधारणया भवान्भुवि सुर्याचन्द्रमसोस्तृतीय इवाबिच्छिन्नस्य प्रतिदिनमुपचीयमानवृदैः शुचिसुभगमान्य सत्य त्यागशौर्य शौण्डपुरूषप्रकाण्डप्रायस्य महतो राजवंशस्य कर्ता भविष्यति। यस्मिन्नुत्पत्स्यते सर्वद्वीपानां भोक्ता हरिश्चन्द्र इव हर्षनामा चक्रवर्ती त्रिभुवनाविजिगीषुर्द्वितीयो मांधातेव यस्यायं करः स्वयमेव कमलमपहाय ग्रहीष्यति चामरम्, इति वचसोऽन्ते तिरोबभूव- हर्षचरित, तृतीय उच्छ्वास, भैरवाचार्य वर्णन, बाणभट्ट।

23-हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-85, डा0 बैजनाथ शर्मा।

24-सर्वोर्वीभृत्पक्षपातायवज्र परमाणुभिरिव निर्मितं-हर्षचरित, पृ0-181, बाणभट्ट।

25-हर्षचरित, पृ0-182, बाणभट्ट।

26-वही, पृ0-184 ।

27-हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-113, डा0 बैजनाथ शर्मा।

28-वही, पृ0-114 ।

29-उत्तर भारत में शिक्षा-व्यवस्था (600-1200 ई0) पृ0-32, गीतादेवी।

30-हर्षचरित, पृ0-195, बाणभट्ट, उद्यृत हर्षवर्द्धन, पृ0-73, गौरीशंकर चटर्जी।

31-हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-117-120, डा0 बैजनाथ शर्मा।

32-वही, पृ0-121 ।

33-यैनेव तेगतः पिता पितामहः प्रपितामहो वा तमेव मा हासीस्त्रिभुवनस्पृहणीयं पन्थानम्। अपहाय कुपुरूषोचितां शुचं प्रतिपधस्व कुलक्रमागतां केसरीव कुरंगी

राजलक्ष्मीम्। देव, देवभूयं गते नरेन्द्रे दुष्ट गौड भुजंगजजग्ध जीविते च राज्यवर्धने वृत्तेअस्मिन्महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः। समाश्वासय अशरणाः प्रजा क्ष्मापतीनां शिरःसु शरत्सवितेव ललाटंतपान्प्रयच्छ पादन्यासान्- हर्षचरित, षष्ट उच्छ्वास, सिंहनाद उपदेश- बाणभट्ट।

34-तेषु चैवमुत्पधमानेषु क्रमेणोदपादि हूणहरिणकेसरी सिन्धुराजज्वरो गूर्जरप्रजागरो गान्धाराधिपगग्धद्विपकूटपाकलो लाटपाटवपाटच्चरे। मालवलक्ष्मीलतापरषुः प्रतापशील इति प्रथितापरनामा प्रभाकरवर्धनो नाम राजाधिराजाः। यो राज्यांगसंगीन्याभिषिच्यमान एव मलानीव मुमोच धनानि- हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास, प्रारंभ में प्रभाकरवर्द्धन वर्णन, पृ0-120, बाणभट्ट।

35-उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ0-28, डा0 विशुधानंद पाठक।

36-अथ कदाचिद्राजा राज्यवर्धनं कवचहरमाहूय हूणान्हनतुं हरिणानिव हरिहंरिणेशकिशोरम परिमितबलानुयातं चिरंतनैरमाल्यैरनुरकैश्च महासामन्तैः कृत्वा साभिसरमुत्तरापथं प्राहिणोत्- हर्षचरित, पंचम उच्छ्वास प्रारंभ, बाणभट्ट।

37-शमयति गजानन्यान्गन्धद्विषः कलमोऽपि सन् भवति सुतरां वेगोद्रंग भुजंगशिशोर्विषम्।

भुवमधिपतिबलिवस्थोऽण्यलं परिरक्षितुं

न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहोभरः।। -विक्रमादित्या नाटक, 5-अंक, 18-श्लोक-कालिदास।

38-हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-14, डा0 बी0 एन0 श्रीवास्तव।

39-प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0-467, के0 सी0 श्रीवास्तव।

40-देवोऽपि हर्षः सकलराज्यस्थितीश्चकार। ततश्च तथा कृतप्रतिज्ञे प्रयाणं विजयाय दिशां समादिशति देवे हर्षे गतायुषां प्रति सामान्तानामुदवसितेषु बहुरूपाण्युपलिंगानि वितेनिरे। तथा ह्यविप्रकृष्टाः कालदूतद्धृष्टय इवेतस्ततश्चटुलाः कृष्णशारश्रेणयः।. . . . . प्रथममेव प्रतिहारीवापहरन्ती प्रतिभवनं चामरातपत्तव्यजनानि पुरूषा बभ्राम वात्येति। -हर्षचरित, षष्ट उच्छ्वास, अंतिम, बाणभट्ट।

41-अंगनवेदी वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम्।

बाल्मीकश्यच सुमेरू कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य।। 1 ।।

धृतधनुषि बाहुशालिनि शैला न नमन्ति यन्तदाश्चर्यम्।

रिपुसंज्ञकेषु गणना कैव काकेषु ।। 2 ।। -हर्षचरित-सप्तम उच्छ्वास, 1, 2 श्लोक प्रारंभ, बाणभट्ट।

42-अथ व्यतीतेषु च केषुचिद्दछिवसेषु मौहूर्तिकमण्डलेन शतशः सुगणिते सुप्रशस्तेऽहनि दत्ते चतसृणामपि दिशां विजययोग्यो दण्डयात्रालग्ने, सलिलमोक्षविशारदैः शरदैरिवाम्मोधरैः कालधौतैः शातकौम्भैश्च कुम्भैः स्नात्वा विरचरय्य परमया भक्त्या भगवतो नीललोहितस्यार्वा। -हर्षचरित-सप्तम् उच्छ्वास, दण्डयात्रालग्न बाणभट्ट।

43-अथ कदाचिद्राजा राज्यवर्धनं कवचहरमाहूय हूणान्हन्तुं हरिणानिवहरिर्हरिणशकिशोरमपरिमितबलानुयातं चिरंतनैरमात्यैरनुरक्तैच महासामन्तैः कृत्वा साभिसरमुत्तरापथं प्राहिणोत्। -हर्षचरित-पंचम उच्छ्वास प्रारंभ, बाणभट्ट।

44-उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ0-29, डा0 विशुद्धानंद पाठक।

45-हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-13, डा0 बी0 एन0 श्रीवास्तव।

46-हर्षवर्धन, पृ0-77, गौरी शंकर चटर्जी।

47-अथ व्यतीतेषु च केशुचिधिवसेषु मौहूर्तिकमण्डलेने शतशः सुगणिते चतसृणामपि दिशां विजययोग्ये, स्वर्णकुम्भैः स्नात्वा . . . . भक्त्या भगवते नीललोहितस्यार्चामुदर्चिष हुत्वा . . . भवनान्निर्जगाम्। -हर्षचरित-सप्तम् उच्छ्वास, प्रारंभ, बाणभट्ट।

48-प्राग्ज्योतिषेश्वरो हि देवेन सहैकपिंग इव.........अजर्य संगतमिच्छति। यदि च देवस्यापि मैत्रीयति हृदयमवगच्छति य पर्यायान्तरितं दास्यमनुतिष्ठन्ति सुहृद इति ततः किमास्यते..... गढ़ोपगूढ़ानि देवस्य कामरूपाधि पतिः। -हर्षचरित- सप्तम् उच्छ्वा, हंसवेग दूत का सम्वाद, बाणभट्ट।

49-आत्मनापि ततः प्रभृति प्रयाणकैरनवरतैरभ्यमित्रं प्रावर्तत। -हर्षचरित- सप्तम् उच्छ्वास, हंसवेग प्रकरण -बाणभट्ट।

50-बाणभट्ट ने प्रभाकरवर्द्धन की पत्नी का नाम यशोवती दिया है जबकि बंसखेड़ा और मधुबन अभिलेख तथा सोनपत मुहर में यथोमती देवी उद्यृत है

:-हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-111, डा0 बैजनाथ शर्मा।

51-अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, पृ0-293, सुधाकर चट्टोपाध्याय।

52-हर्षचरित, सप्तम् उच्छ्वास, बाणभट्ट।

53-अपरिमितविभूतिस्फीत सामन्त सेनामुकुटमणिमयूरवाक्रान्तपादारविन्दः युधि पतितगजेन्द्रा नीकवीभत्सभूतोभयविगलितहषो येन चाकारि हर्षः -एहोल अभिलेख।

54-प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ0-152, डा0 विमल चन्द्र पाण्डेय।

55-श्री हर्ष ऑफ कन्नौज, पृ0-22, पन्निकर।

56-हर्ष, पृ0-43, राधा कुमुद मुखर्जी ।

57-हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ0-119, डा0 रमाशंकर त्रिपाठी।

58-द एज ऑफ इंपीरियल गुप्ताज, दूसरा अध्याय, पृ0-69, राखाल दास बनर्जी।

59-परमभट्टारक महाराजाधिराज-श्री हर्ष के लिए इस उपाधि का प्रयोग स्वयं उनके लेखों में किया गया है। 'परमेश्वर' उपाधि का प्रयोग पुलकेशी द्वितीय के लिए चालुक्य लेखों में तथा श्री हर्ष के लिए 'हर्षचरित' में पाया जाता है। (देवः परमेश्वरो हर्षः-हर्षचरित, पृ0-121) परमदैवत का प्रयोग कुमारगुप्त के लिए, फ्लीट के गुप्त इंसक्रिप्शंस के लेख नं0 33 में 'सम्राट' का प्रयोग, 32 नं0 के लेख में 'सर्वाधिराज', रत्नावली नाटक में 'सार्वभौम' पद का प्रयोग मिलता है- हर्षवर्द्धन, पृ0-258, डा0 गौरीशंकर चटर्जी।

60-वही, पृ0-259 ।

61-वही, पृ0-362 ।

62-दामोदरगुप्त के लेखों में 'उपरिक' शब्द का प्रयोग प्रांतीय शासक के अर्थ में किया गया है।

63-दि एज ऑफ द इंपीरियल गुप्ताज, पृ0-72, राखालदास बनर्जी।

64-हर्षवर्द्धन, पृ0-270, गौरीशंकर चटर्जी।

65-प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ0-165, विमल

चन्द्र पाण्डेय।

66-वही, पृ0-165 ।

67-वही, पृ0-165 ।

68-वही, पृ0-165 ।

69-अतः किंचिदर्थये भदन्तमियं नः स्वसा बाला च . . . । अस्माभिश्च भ्रातृवधायकारिरिपुकुल प्रलयकरणोधतस्य वाहोविंधेयैर्भूत्वा सकललोक प्रयत्क्षं प्रतिज्ञा कृता. . . . अतो नियुक्तां कियन्तमपि कालमात्मानमार्योऽपि कार्ये मदीय। अधप्रभृति यावदयं जनो अधयति प्रतिज्ञाभारम् आश्वासयति च तातविनाशदुःख विक्लवाः प्रजाः तावदिमाम त्रमवतः कथाभिश्च धर्म्याभि . . . . . .प्रतिबोध्यमानामिच्छामि :-हर्षचरित, अष्टम् उच्छ्वास, अंतिम भाग -बाणभट्ट।

70-समवसिते च संध्यासमये समनन्तरमपरिमितयशः पानतृषिताय मुक्ताशैलशिलायषक इव निजकुलकीर्त्या, कृतयुगकरणोधतायादिराजराजतशासनमुद्रानिवेश इव राज्यश्रिया, सकलद्वीपजिगोषाचलिताय श्वेतद्वीपदूत इव चायत्या, श्वेतभानुरूपानीयत निशया नरेन्द्रयेति भद्रमोम् :-हर्षचरित- अष्टम् उच्छ्वास, अंतिम भाग -बाणभट्ट।

71-प्राचीन राजवंश और बौद्ध धर्म, पृ0-424, डा0 अच्युतानन्द घिल्डियाल।

72-प्राचीन भारत, पृ0-220, डा0 आर0 सी0 मजूमदार।

73-वही, पृ0-220 ।

74-प्राचीन राजवंश और बौद्ध धर्म, पृ0-376, डा0 अच्युतानंद घिल्डियाल।

75-प्राचीन भारत, पृ0-216-17, डा0 आर0 सी0 मजूमदार।

76-"ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया", पृ0-145, रोमिला थापर।

तृतीय अध्याय

वर्द्धन-वंश कालीन समाज

तृतीय अध्याय

वर्द्धन-वंश कालीन समाज

संगठित समूह को समाज कहा जाता है और व्यक्ति का विकास समाज के द्वारा ही होता है। ऋग्वेद में प्रजा को अपने कार्य सिद्धि के लिए संगठित समाज में रहने के लिए अनेक मंत्र दिये गये हैं। संगठन के आधार पर ही वैदिक कालीन समाज ने उन्नति कर जीवन के सभी क्षेत्रों में विकास किया था। जैसा कि इस मंत्र में वर्णन है "हे मनुष्यों तुम एकत्र हो जाओ। समान रूप से तुम कार्य करो। तुम समान मत वाले हो। जैसे देवगण एकमत होकर छवि ग्रहण करते हैं, वैसे ही तुम भी समान मति वाले होकर समृद्धि को प्राप्त करो।"[1]

प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्य-वंश और गुप्त-वंश के पश्चात् वर्द्धन-वंश का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जब हम अपना ध्यान वर्द्धन-वंश कालीन समाज पर केन्द्रित करते हैं तो हम पाते हैं कि जहाँ वर्द्धन-वंश कालीन सम्राट् के शासनकाल की राजनीतिक घटनाओं, उसके विद्यानुराग एवं धार्मिक क्रिया-कलापों आदि से संबंधित एक ओर पर्याप्त मूल एव पूरक साक्ष्य हैं, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक जीवन से संबंधित बहुत कम जानकारी है। इसका मूल कारण आलोच्य काल से सम्बद्ध धर्म शास्त्रीय ग्रंथों का आभाव है। प्राचीन भारतीय वर्ण-जाति, उनके कर्तव्य-अधिकार, अस्पृश्यता, दास-प्रथा, संस्कार, आश्रम, धार्मिक जीवन, आचार, यज्ञादि, राजशास्त्र, व्यवहार, आर्थिक जीवन आदि को प्रकाशित करने वाले ग्रंथों में एक भी ऐसा नहीं है जिसे प्रमाणिक रूप से वर्द्धन-वंश के शासक के शासनकाल से सम्बद्ध किया जा सके। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, वृहष्पति स्मृतियाँ, विष्णुधर्म-सूत्र आदि का प्रणयन जहाँ ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर ईस्वी सन् का पाँचवीं शताब्दी के बीच किया गया माना जाता है, वहीं वायु, विष्णु, मार्कण्डेय, मत्स्य, कूर्म, जैसे कुछ पुराण,

वाराहमिहिर की बृहत्संहिता, पंचसिद्धान्तिका तथा बृहज्जातक जैसे ग्रंथ तीसरी शताब्दी ईस्वी से छठीं शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्द्ध के पूर्व प्रणीत हुए।[2] कशिका तथा तंत्रवार्तिक भी क्रमशः 650 से 665 ई0 एवं 650 से 700 ई0 के बीच लिखे गये। पराशर, शख तथा देवल स्मृतियाँ तथा अग्नि, गरूड़ जैसे पुराणों की रचना 600 ई0 से 900 ई0 के बीच अवश्य की गयी, पर इनमें से वर्द्धन-वंश के शासक के शासन-काल में भी किसी का प्रणयन किया गया, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। बाणविरचित कादम्बरी, हर्षचरित, हर्षविरचित नागानन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका, मयूरविरचित सूर्यशतक, मयूरशतक, आर्यमुक्तमाल (यद्यपि अन्तिम दो संदिग्ध है) अवश्य ही हर्ष के शासन काल से सम्बद्ध हैं, किंतु साहित्यिक ग्रंथ होने के कारण इनमें तत्कालीन सामाजिक संगठन का प्रच्छन्न वर्णन तो मिल जाता है पर इससे संबंधित सिद्धांतों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अतः यह स्वाभाविक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि तत्कालीन सामाजिक रूप-रेखा का निर्धारण कैसे किया जाये ? लेकिन जब हम गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं तो इस समस्या का समाधान निकल आता है। प्राचीन भारतीय सामाजिक ढांचे मे गतिशीलता अवश्य दृष्टिगत होती है, लेकिन इसमें काफी समय लगा। भारती दिक्षित का भी सामाजिक गतिशीलता के सन्दर्भ में ऐसे हीं विचार हैं। वर्द्धन-वंश कालीन सामाजिक संस्थाएं बहुत कुछ गुप्तकालीन सामाजिक संस्थाओं के समान ही थीं। अतः इसके निर्धारण में इसे आधार मानकर तत्युगीन धर्म शास्त्रीय प्रमाणों का उपयोग किया जा सकता हैं। 600 ई0 से लेकर 900 ई0 के बीच प्रणीत पराशर, देवल, शंख स्मृतियाँ तथा अग्नि, गरूड आदि पुराण भी इस दिशा में हमारे सहायक हो सकते हैं। इन कतिपय प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष ग्रंथों, चीनी यात्री हुएनसांग के यात्रा-वृतांतों, इत्सिग के विवरण तथ हर्ष के लेखों के आधार पर तत्युगीन समाज का जो सामान्य स्वरूप निरूपित किया जा सकता है, उसका विवेचन हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

तत्कालीन सामाजिक संगठन का आधार पारम्परिक वर्ण-व्यवस्था थी, जिसमें समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों में विभाजित था तथा जिसका पुनरूत्थान गुप्तकाल में हुआ। इसका उल्लेख स्मृतियों, पुराणों तथा

समकालीन अन्य ग्रंथों के साथ-साथ चीनी यात्रियों के वृतांतों में मिलता है। हुएनसांग ने लिखा है कि तत्कालीन समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र वर्णों में विभाजित था।[3] वाराहमिहिर ने बृहत्तसंहिता में लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के भवनों को अलग-अलग दिशाओं में बनवाने की व्यवस्था की गयी थी। बृहष्पति में साझेदारी, दण्ड-निर्धारण, अपराध आदि के संबंध में चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है। अग्निपुराण में वर्ण-धर्म निरूपण के प्रसंग में यज्ञ अध्ययन, दान, वेदाध्ययन आदि ब्राह्मणों के कर्म बताये गये हैं। प्रजा का पालन तथा दुष्टों का समन क्षत्रिय के, कृषि, गोरक्षा एवं व्यापार वैश्य के तथा द्विजों की सेवा, शिल्प रचना शूद्र के कर्म बताये गये हैं। हर्ष के समकालीन बाण कृत हर्षचरित में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इनमें ब्राह्मण सर्वाधिक प्रतिष्ठित तथा प्रथम स्थान पर थे। ये अध्ययन, अध्यापन, यज्ञादि के अनुष्ठान आदि में अपना समय व्यतीत करते थे। हुएनसांग जिस समय भारत आया था, ब्राह्मण उसे इन्हीं व्यवसायों में लिप्त दिखायी दिये थे। उसने लिखा है कि ब्राह्मण सात्विक एवं चरित्रवान थे। हर्षचरित में विवृत है कि बाण के चचेर भाई ब्रह्मचारियों को पढाते तथा यज्ञ करवाते थे। लेकिन इसके साथ ही साथ इस युग के ब्राह्मण कुछ अन्य व्यवसायों में भी लगे थे। कुछ शासन कार्यों मे उच्च पदों पर विराजमान थे। कुछ ब्राह्मण खेती भी करते थे। दान में प्राप्त भूमि के कारण कतिपय ब्राह्मण परिवार अत्यधिक समृद्ध हो गये थे। ऐसी भूमि को अग्रहार कहा जाता था। वास्तव में ऐसा उन्होंने शास्त्रोक्त विधान के विपरीत नहीं किया। अग्नि पुरण में उल्लिखित है कि आपत्तिकाल में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वृत्ति ग्रहण कर सकता है।[4] कतिपय ब्राह्मण राजप्रासादों में रहकर ज्योतिषी का कार्य भी करते थे।

अभी तक ब्राह्मणों की सर्वत्र एक ही जाति थी। उनका कोई उप-विभाग नहीं किया गया था।[5] इनकी प्रसिद्धि गोत्र, प्रवर, चरण अथवा वैदिक शाखाओं से थी, जिससे उनका संबंध था। भास्करवर्मा के निधानपुर[6] वाले ताम्र-पत्र तथा वकाटक-वंश के प्रवरसेन द्वितीय के चन्मक[7] के ताम्र-फलक वाले दानपत्र में वहुसंख्यक ब्राह्मणों के नाम लिखे हुए हैं। उनके नामों के साथ उनके गोत्र

और चरण भी दिए गए हैं। बंसखेडा ताम्रलेख में जिन दानग्रहीता ब्राह्मणों का उल्लेख किया गया है उनमें एक का नाम भट्ट बालचन्द्र बह्वृच अथवा ऋग्वेदी भरद्वाज गोत्र का था तथा दूसरा भरद्वाज गोत्र का ही भद्रस्वामी छांदोग अर्थात् सामवेदी था। परम्परया ब्राह्मण अपने नामात में शर्मा और कभी-कभी भट्ट शब्द जोडते थे। शर्मा का प्रयोग तो पुरातनकाल से चला आ रहा था तथा जाति का बोधक था, पर भट्ट विद्वता-सूचक विशेषकर मीमांसा दर्शनशास्त्र संबंधी उपाधि थी। लेखों में नामों के साथ स्वामी पदवी भी जुड़ी मिलती है जैसे-शिखास्वामी, कर्कस्वामी, भद्रस्वामी, पाटलस्वामी आदि। ये पारम्परिक रूप से शासन कार्य में लगे थे।[8]

दूसरा वर्ण क्षत्रियों का था। चीनी यात्री ने लिखा है कि "क्षत्रिय राजाओं की जाति है। यह सैकड़ों वर्षों से शासन करती चली रही है ये धार्मिक एवं दयालू हैं।[9] हुएनसांग ने क्षत्रियों का प्रशंसापूर्वक उल्लेख करते हुए उसे निर्दोष, सरल एवं मितव्ययी बतलाया है।[10] लेकिन डा0 राम निहोर पाण्डेय के अनुसार हर्षकालीन सामाजिक संरचना के परिप्रेक्ष्य में हुएनसांग के वक्तव्य को यथावत् नहीं माना जाना चाहिए। वास्तव में चीनी यात्री ने क्षत्रियों की परिभाषा धर्मशास्त्रों के आधार पर की, क्योंकि इस समय ऐसे अनेक राजवंश थे, जो क्षत्रिय नहीं थे तथा अनेक क्षत्रिय शासनेत्तर कार्यों में संलग्न थे। चीनी यात्री की दृष्टि में तो पुष्यभूति वंशीय हर्ष स्वतः वैश्य था (जो यद्यपि वास्तविकता नही थी) हुएनसांग के अनुसार कामरूप, चिह-चि-होति (जजहोति) तथा वु-शे-येन-न (उज्जैन) मे शासक ब्राह्मण तथा मणिपुर एवं सिध के शासक शूद्र थे। हर्ष के समय इनके अतिरिक्त अन्य ब्राह्याण तथा शूद्र राजवंश थे। अस्तु हुएनसांग का यह वक्तव्य कि "यह वंश कई पीढ़ियों से शासन करता चला आ रहा था",[11] मात्र सैद्धांतिक प्रतीत होता है, व्यावहारिक नहीं।[12] इस समय के क्षत्रिय अपने नामान्त में वर्मा, त्राता, सेन आदि पद्वियों का प्रयोग करते थे। वर्मा पद का प्रयोग तो शास्त्रानुकूल था, पर शेष सामायिक थे। बलमी राजाओं ने सेन तथा भट्ट पद्वियों का प्रयोग किया। डा0 राजबली पाण्डेय का विचार है कि क्षत्रियों की उपाधियों से पता चलता है कि क्षत्रियो में जातीय संकीर्णता आ गयी थी। हर्षचरित, कादम्बरी तथा हर्ष के नाटकों से पता चलता है कि इस काल में क्षत्रिय ब्रह्याणों का अतिशय सम्मान करते थे।

हर्ष ने दिवाकरमित्र से, जो मूलतः ब्राह्मण था लेकिन बाद में बौद्ध हो गया था बड़े आदर एवं सम्मान के साथ मिला था। उसने जयसेन को 100 गांवों की आमदनी देने का प्रस्ताव भी रखा था, जिसे उसने अस्वीकार कर दिया था। मधुबन तथा बंसखेड़ा अभिलेख से पता चलता है कि सम्राट् हर्ष ने ब्राह्मणो को ग्रामदान दिया था।

तीसरा वर्ण वैश्यों का था। ये मुख्य रूप से व्यापार करते थे। शास्त्रानुसार इनका प्रधान कर्तव्य कृषि, व्यापार-वाणिज्य आदि से संबधित था। हुएनसांग के विवरण से पता चलता है कि वैश्य "कृषि कर्म की अपेक्षा व्यापार को अधिक पसंद करते थे। वे वस्तुओं का विनिमय करते थे तथा देश-विदेश में व्यापार का लाभ प्राप्त करते थे"।[13] ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे वैश्य कृषि कर्म से परामुख होते गये तथा व्यापार-वाणिज्य को अंगीकृत करते गये। कुछ लोगों[14] की मान्यता है कि ऐसा बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण हुआ था। अहिंसा के अनुपालन कर्ता द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) उतनी भी हिंसा करने के लिए तैयार न थे, जितना हल चलाने से होने की संभावना थी। अग्निपुराण[15] में वर्णित है कि कृषक भूमि को जोतने, गोड़ने आदि से चीटी या अन्य जीवो की जो हत्या करते हैं, सोहनी द्वारा जो पौधों को विनष्ट करते हैं, उस पाप से यज्ञादि द्वारा मुक्त होते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कृषि-कर्म में हिंसा की संभावना को वे मानते तो थे, पर इससे बचने का उपाय उनके पास था। अतः इस कारण इससे विरत होने का प्रश्न ही नहीं था। कृषि कर्म मे शूद्रों के लाने का जो भी कारण रहा हो, इतना निश्चित है कि व्यापार एवं वाणिज्य मे अपेक्षाकृत अत्यधिक लाभ के कारण ही शायद इस युग मे वैश्य कृषि कर्म से विरत होकर इस ओर प्रवृत्त हुए। पांचवीं शताब्दी ई0 की रचना पचतत्र के अनुसार धन प्राप्ति के साधनों-सम्राट् सेवा, कृषि, विद्योपार्जन, व्यापार तथा वाणिज्य में वाणिज्य द्वारा अगर्हित धन लाभ होता है।[16] क्योंकि अनेक लोगो ने भिक्षा मांगी है, राजा भी उचित वृत्ति नहीं देता, कृषि क्लेश से परिपूर्ण है, विद्या गुरू की विनयवृत्ति द्वारा विषम है, ब्याज से दरिद्रता होती है क्योंकि दूसरे के हाथों में जाने से गायब होने की आशंका रहती है। अतः वाणिज्य कर्म से अधिक उत्तम और कोई जीविका का साधन नहीं है।[17] सब उपायों का

उपाय वाणिज्य करना है। एक यही धन के लिए प्रशंसनीय है शेष संशयात्मक हैं।[18] इससे तो यही प्रतीत होता है कि इस युग में वैश्यों ने व्यापार-वाणिज्य को बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण नहीं, बल्कि धन लाभ के कारण अपनाया। वैश्य इस युग में अत्यंत सम्मानित स्थान पर थे क्योंकि राज्य की अर्थव्यवस्था इनके हाथ में ही थी। वे साहूकार थे, उन्हीं के हाथों मे बैंक थे तथा राजकीय क्षेत्रों में उन्हीं का प्रभाव था। यदि यह सिद्ध किया जा सके कि गुप्त वंश के सम्राट् वैश्य थे (जैसा कि संभवतः वे थे), तब यह कथन युक्तिसंगत होगा कि लगातार कई शताब्दियों तक भारत का भाग्य-चक्र वैश्यों के हाथ में रहा। गुप्त राजाओं के पतन के बाद यशोधर्मन-विष्णुवर्द्धन जो बहुत संभव है वैश्य था, देश का सम्राट् बन बैठा। पुष्यभूति लोग भी वैश्य वंश के थे और हर्ष इस वंश के भूषण थे। गुप्त-काल के लेखों में प्रांतीय शासकों तथा जिले के अफसरों के नाम 'दत्त' एवं 'गुप्त' उपाधियों के साथ पाये जाते है।[19] उपाधियाँ उनके वैश्य-वंशोद्भव होने की सूचक है। नगरश्रेष्ठी, प्रथमकुलिक, सार्थवाह आदि जो संभवतः वैश्य थे, जिले के अफसरों को शासन-प्रबंध में सहायता देते थे, जैसा कि दामोदरपुर के ताम्र-पत्र वाले लेखों से प्रमाणित होता है। इन सब बातों से यह परिणाम निकलता है कि उन दिनों वैश्यों की जाति बहुत अधिक महिमाशालिनी थी। वैश्यों की उपाधियाँ 'गुप्त', 'भूति' तथा 'दत्त' थीं।[20]

शूद्रों का स्थान चौथा था। जैसे-जैसे धन लाभ के कारण वैश्य कृषि कर्म से विरत होते गये, शूद्रों को इस ओर आगे बढ़ने का अवसर मिलता गया तथा यह उनका प्रधान व्यवसाय बन गया। हुएनसांग ने इन्हे कृषक माना है।[21] उसके अनुसार ये भूमि जोतने तथा खोदने में परिश्रम करते थे।[22] पाणिनि, पतंजलि आदि ने कई प्रकार के शूद्रों का उल्लेख किया है[23] यथा रजक, तंतुवाय, तक्ष, अयस्कार आदि। प्रारंभ में शूद्रों को अत्यंत हेय दृष्टि से देखा जाता था तथा उसके साथ सामाजिक अन्याय किया जाता था। वे यज्ञों में भाग नहीं ले सकते थे। उनके द्वारा छुए गए बर्तन अग्नि में तपाकर शुद्ध किये जाते थे। हर्ष के समय शूद्रों की स्थिति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, पर लगता है कि इस समय इनकी स्थिति वैसी नहीं थी। इन्हें पहले से अब कुछ

अधिक सम्मान मिलने लगा था। यहाँ तक कि कुछ शूद्रों के हाथ में राजनीतिक शक्ति भी आ गयी थी। जैसे मणिपुर तथा सिंध के राजा शूद्र बताए गये हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शूद्रों को वैदिक शिक्षा से पृथक करने के अतिरिक्त वर्ण-व्यवस्था ने बहुत दिनों तक व्यवसायों को किसी जाति विशेष के लिए सीमित नहीं किया। यद्यपि ब्राह्मणों का मुख्य व्यवसाय अध्ययन-अध्यापन था, पर इस वर्ण मे जन्में मंद बुद्धि वाले अन्य व्यवसाय भी अपना सकते थे। ठीक उसी प्रकार दूसरे वर्णों के लोग अपने व्यवसाय से हटकर दूसरे व्यवसाय कर सकते थे।

इन चारों वर्णों के साथ-साथ हुएनसांग ने कतिपय मिश्रित जातियों का भी उल्लेख किया है।[24] ये भी एक प्रकार के शूद्र ही थे। बाण ने कादम्बरी में शूद्रक द्वारा शासित प्रजा के वर्णन प्रसंग में कई संकर जातियों का उल्लेख किया है। इनकी संख्या बहुत अधिक थी। इस दृष्टि से निषाद, पुक्कस, पारशव आदि का उल्लेख किया गया है। इनकी उत्पत्ति अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों के परिणामस्वरूप हुयी थी। लेकिन बाद में ये कर्मानुसार हो गयीं। देश मे अछूतों की भी संख्या अधिक थी। हुएनसांग के अनुसार - "कसाई, मछुआरे, मेहतर, जल्लाद, नट आदि के आवास स्थलों पर पहचान के लिए निशान लगे थे। वे नगर के बाहर रहने के लिए बाध्य किये जाते थे तथा गांव आते-जाते समय वे बायें चलते थे।[25] कादम्बरी में विवृत है कि जिस समय चाण्डाल कन्या शुकपिंजर के साथ शूद्रक के दरबार में प्रविष्ट हुयी थी, उसने शासक को सचेष्ट करने के लिए हाथ में ली हुयी छड़ी से चित्रित फर्श पर प्रहार किया था।[26] यह प्रथा अस्पृश्यों में साधारणतः प्रचलित थी। इस प्रकार वे उच्च जाति के लोगों को अपने आगमन से सावधान कर देते थे। बाण ने चांडाल स्त्री को 'स्पर्शवर्जित' अर्थात् अछूत तथा 'दर्शनमात्रफलं' अर्थात् जिसे केवल देख ही सकते थे, छू नही सकते थे,[27] कहा है। भारतीय आर्य समाज की परिधि में चाण्डाल तथा इसी प्रकार का अन्य जातियों से दूर हट कर पुलिन्द, शबर, किरात आदि आदिवासी जातियाँ भी थी, जो विन्ध्य के अरण्यों में तथा पार्वत्य प्रदेशों में रहती थी। दशकुमारचरित, हर्षचरित, कादम्बरी तथा परवर्ती गुप्तकाल की कृतियों में इन जनजातियों की वेशभूषा,

इनकी धार्मिक मान्यताओं तथा सामाजिक रीति-रिवाजों के विषय में जानकारी मिलती है। राज्यश्री की खोज में हर्ष की शबर सेनापति ने बडी मदद की थी। कादम्बरी से पता चलाता है कि सातवीं शताब्दी में विन्ध्याटवी में रहने वाली शबर जातियों में नरबलि जैसे घृणित प्रथाएँ भी प्रचलित थी। उनका मुख्य भोजन मांस था तथा वे शराब पीती थी और विवाह के लिए स्त्रियो का अपहरण करती थीं।[28] दशकुमारचरित, जिसकी रचना छठी शती ईस्वी के प्रारंभ से सातवीं शती ई0 के उत्तरार्द्ध के बीच किसी समय की गयी थी, में भी किरातों को विजय प्राप्ति के निमित्त एक कुमार की बलि देने के लिए प्रस्तुत वर्णित किया गया है।[29]

वर्ण जन्म पर आधारित होने तथा उनके पृथक-पृथक नियम के कारण उनमें दूरत्व की भावना उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक हीं था। यद्यपि यदुनंदन कपूर के अनुसार बौद्ध धर्म के प्रचार ने इस दूरत्व को बहुत कुछ समाप्त सा कर दिया था। किंतु ब्राह्मण धर्म के पुनः शक्तिशाली बन जाने से जाति-प्रथा के शिथिल बंधन फिर कठोर हो गये थे।[30] चीनी यात्री हुएनसांग को इन बंधनों का स्वयं आभास हुआ था। उसने लिखा है कि - 'चारों श्रेणियों में लोगों की जाति संबंधी उँचाई-निचाई का निश्चय इनके स्थान से होता था। विवाह संबंध करते समय इनकी नवीन रिश्तेदारी के हिसाब से उँचाई और निचाई का निर्णय किया जाता था। अछूत नगर के बाहर रहते थे तथा उनके आवासों पर उनके व्यवसाय सूचक चिन्ह लग जाते थे।[31] लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि विभिन्न जातियों में पारस्परिक संबंध कटुतापूर्ण थे। बाण यद्यपि कट्टर ब्राह्मण था पर उसके मित्र सभी जाति के थे। इसकी पुष्टि हमें हर्षचरित में विवृत बाण के मित्रों की विशद् सूची से हो जाती है।[32] कादम्बरी में शूद्रक से एक चाण्डाल कन्या के वार्तालाप का वर्णन किया गया है। राज्यश्री की खोज के समय हर्ष से विन्ध्याटवी में आटविक प्रदेश के राजा शरभकेतु का लड़का व्याघ्रकेतु शबर सेनापति भूकम्प के भांजे शबर युवक निर्घात को लेकर मिला था। हर्ष ने उसके प्रणाम को सप्रेम स्वीकार कर उससे राज्यश्री के विषय में पूछा था और राज्यश्री के मिलने तक उसे अपने साथ रखा था। राज्यश्री की प्राप्ति के बाद जब हर्ष विन्ध्याटवी से वापस आने लगे तो वस्त्र, अलंकरण आदि देकर निर्घात को विदा किया। इस प्रकार हर्षचरित

तथा कादम्बरी के सम्मिलित साक्ष्यों से पता चलता है कि समाज में सवर्णों के समान निम्न जाति के लोगों को भी सम्मान मिला था। इनसे वैवाहिक संबंध भी स्थापित किये जाते थे। स्वयं बाण के दो चचेरे भाई चन्द्रसेन तथा मातृसेन शूद्रा माता से उत्पन्न हुए थे।[33] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कुलीन परिवार के सदस्य भी शूद्र परिवार मे विवाह संबंध स्थापित कर लेते थे। ऐसी स्थिति में हुएनसांग का विवरण, जिसमें उसने अन्तर्जातीय विवाह के न प्रचलित होने की बात कही है, सत्य नहीं प्रतीत होती। परन्तु चीनी यात्री के वक्तव्य को पूर्णतया उपेक्षित भी नहीं किया जा सकता। ऐसा लगता है कि इस प्रकार के संबंधों को स्वीकृति तो मिली थी पर इसका आम प्रचलन नहीं था। सवर्ण शूद्र कन्याओं से विवाह तो कर लेते थे पर उन्हें अपनी कन्याएँ कदापि नहीं देते थे।

समाज की आधारशिला परिवार तथा परिवार की आधारशिला विवाह संस्थाएँ हैं। वर्द्धन- वंश कालीन विवाह संस्थाओं के विषय में स्पष्टतः कोई संकेत नहीं मिलता। लेकिन ऐसा लगता है कि गुप्तकाल की भांति वर्द्धन वंश के शासक के समय भी प्राचीन स्मृतियों मे दिए गए विवाह संबंधी नियमों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। यद्यपि हुएनसांग ने लिखा है कि यहॉ अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित नहीं थे तथा एक जाति के लोग अपनी ही जाति में विवाह करते थे।[34] लेकिन वास्तविकता यह नहीं थी। स्मृतियों के विधानानुसार इस युग में अन्तर्जातीय विवाह हुए। ये दो प्रकार के होते थे। अनुलोम तथा प्रतिलोम। अनुलोम विवाह में उच्च वर्ण के पुरूष निम्न वर्ण की कन्या से विवाह करता है तथा प्रतिलोम विवाह में उच्च वर्ण की कन्या का विवाह निम्न वर्ण के पुरूष के साथ किया जाता है। हर्षचरित के अनुसार बाण के सौतेल भाई चन्द्र सेन शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुए थे। लेकिन इससे बाण की कोई सामाजिक अप्रतिष्ठता नहीं थी। राज्यश्री वैश्या थी किन्तु उसका विवाह मौखरि क्षत्रिय ग्रहवर्मा के साथ हुआ था। डा0 फ्लीट ने अनुलोम विवाहों के संबंध में हमारे ध्यान को एक लेखगत प्रमाण की ओर आकर्षित किया है।[35] वकाटक-वंश के महाराज देवसेन के मंत्री हस्तिभोज का पूर्वज यद्यपि ब्राह्मण था, तथापि "श्रुति-स्मृति के विधानानुसार" ब्राह्मणी स्त्रियों के होते हुए भी उसने एक क्षत्रिया से विवाह किया। यशोधर्मन- विष्णुवर्द्धन के मंदसोर वाले

शिलालेख हमें बतलाते हैं कि रविकीर्ति ने, यद्यपि यह स्वय ब्राह्मण था और नैगमों अर्थात् वेद के जानने वालों के वंश में उसका जन्म हुआ था तथा कभी भी स्मृति-मार्ग से विचलित नहीं हुआ था, भानुगुप्ता से जो स्पष्टतः वैश्या थी, अपना विवाह किया।[36] एक ही जाति में भी पारस्परिक संबंधों में विवाह नहीं होते थे। यद्यपि दक्षिण भारत में माता की लड़की से विवाह करना वैद्य माना जाता था तथापि उत्तर भारत में ऐसा निन्दनीय था। विवाह की धर्म शास्त्रों में वर्णित आठ विधियों-ब्राह्म, शौल्क, प्रजापत्य, दैव, गन्धर्व, असुर, राक्षस तथा पैशाच में इस समय गंधर्व तथा ब्रह्म विवाह के प्रचलन के प्रमाण ही मिलते हैं। नागानन्द में जीमूतवाहन तथा मलयवती के गंधव विवाह का वर्णन मिलता है। लेकिन आगे चलकर इस विवाह को ब्रह्म विवाह मान लिया गया था क्योंकि दोनों के अभिभावकों ने इसकी अनुमति दे दी थी। राज्यश्री का विवाह ब्रह्म विवाह रीति से संपन्न किया गया था। विवाह में कन्या-पिता वर को प्रचुर मात्रा में दहेज भी देता था। यद्यपि हुएनसांग इस संदर्भ में सर्वथा मौन है, पर हर्षचरित से इस प्रथा का समर्थन मिल जाता है। इससे पता चलता है कि राज्यश्री के विवाहोपरांत विदाई के अवसर पर प्रभाकरवर्द्धन ने प्रचुर मात्रा में धन तथा वस्तुएँ निवेदित की थी। जिसे लेकर ग्रहवर्मा राज्यश्री के साथ अपने घर वापस गये थे।[37]

विवाह में कन्याओं के आयु की सीमा में गुप्तकाल से ही कमी करने की प्रवृत्ति मिलने लगती है। कुछ धर्मशास्त्रकारों यथा पराशर ने तो अभिभावकों के लिए अनिवार्य कर दिया कि वे अपनी कन्याओं का विवाह रजस्वला होने के पूर्व ही कर दें। विष्णुपुराण में विवृत है कि कन्या से वर की उम्र तिगुना होनी चाहिए। हर्षचरित में बाण लिखते है कि राज्यश्री का विवाह उसके पूर्ण यौवन प्राप्त करने के पूर्व ही कर दिया गया था। बाण ने लिखा है कि "बढ़ती हुयी नदी जैसे वर्षा काल में मेघों के उठा न लेने पर तट को बड़ी-बड़ी भवरियों में डाल देती है, उसी प्रकार बढ़ती हुयी कन्या स्तनों के उठने के समय पिता को चिंता में डाल देती है।[38] इस प्रकार यदि उच्च कुलों में यौवन के पूर्व कन्याओं के विवाह की व्यवस्था थी तो निम्न कुलों में तो इसका और भी कड़ाई से पालन किया जाता रहा होगा। प्रसंगवश इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि गृहसूत्रों तथा धर्मसूत्रों के अनुशीलन से यह पता

चलता है कि प्रारंभ में कन्याओ का विवाह यौवन के सन्निकट आने पर ही किया जाता था। हिरण्केशि, मानव, वैखानस, गोभिल आदि में विवाह के योग्य कन्याओं के गुणों में ''नग्निका'' का उल्लेख किया गया है। व्याख्याकारों ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि नग्निका ऐसा कन्याएँ थी, जिनका मासिक धर्म सन्निकट रहता था पर आगे चलकर ऐसी व्यवस्था की गयी कि कन्या का विवाह युवती होने के पूर्व किया जाने लगा। गौतम के अनुसार कन्या का विवाह युवती होने के पूर्व ही कर देना चाहिए। याज्ञवल्क्य, नारद, मनु आदि ने भी कन्या के शीघ्र विवाह का समर्थन किया है। इस प्रकार ई0 पू0 600 से ईस्वी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों तक तो कन्या का विवाह युवती होने के आस-पास किया जाता था पर इसके बाद 200 ई0 के लगभग जब याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना की गयी, युवती होने के पूर्व ही विवाह करने की व्यवस्था की गयी। ऐसा क्यो हुआ ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है। महामहोपाध्याय काणे का विचार है कि इन शताब्दियों में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार से बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के संस्थाओं को धार्मिक मान्यता मिल गयी।[39] भिक्षुणियों के नैतिक जीवन में भी पर्याप्त शिथिलता आ गयी। इसका कारण यह था कि अधिकांशतः कन्याओ का पठन-पाठन बहुत कम हो गया यद्यपि कुछ कन्याएँ अभी भी विद्याध्ययन करती थीं। ऐसी स्थिति में अविवाहित कन्याओं को अकारण निरर्थक रूप में रहने देना समाज को मान्य नहीं था। इस समय कंन्याओं का उपनयन संस्कार बंद हो गया तथा विवाह ही उपनयन संस्कार माना जाने लगा। महाभारत के अनुसार अविवाहित स्त्रियाँ स्वर्ग की अधिकारिणी नहीं थी। इन स्थितियों में पांचवीं-छठीं शताब्दी ई0 तक कम उम्र की कन्याओं के विवाह करने की प्रथा काफी बढ़ गयी। हर्ष के समय भी यह व्यवस्था रही। कुछ विद्वानों [40]के अनुसार 7वीं से 12 वीं शताब्दी तक साहित्यिक साक्ष्यों से इस युग मे यौन-जीवन में अश्लील रूचि उत्पन्न हो गयी थी। संभवतः कुछ अभिभावकों ने समाज के इस दुष्प्रभाव से अपनी पुत्रियों को बचाने के लिए उनका विवाह रजोदर्शन के पूर्व करना ही श्रेयष्कर समझा और ऐसा करना उच्च सामाजिक स्थिति का द्योतक माना जाने लगा। विवाह माता-पिता की इच्छा से किये जाते थे। इसकी पुष्टि स्वतः हर्षचरित से हो जाती है। प्रभाकरवर्द्धन ने राज्यश्री के विवाह के संबंध में अपनी भार्या यशोमती से

तो परामर्श किया लेकिन राज्यश्री की इच्छा जानने की कोशिश नही की। यह धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के अनुकूल ही था, क्योंकि विष्णुधर्मसूत्र [41] के अनुसार , कन्या का विवाह क्रमशः पिता, पितामह, भाई, कुटुम्बी, नाना, नानी करते थे। याज्ञवल्क्य ने नाना को इससे अलग रखा है।[42]

पति की मृत्यु के अनन्तर स्त्रियाँ पुनर्विवाह नही करती थी। हुएनसांग ने लिखा है कि विवाहित स्त्रियाँ पुनर्विवाह नहीं करती थीं।[43] हर्षचरित में ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद राज्यश्री ने पुनर्विवाह नही किया था। इस समय विधवा जीवन निन्दनीय था। यशोमती ने विधवा रहने की अपेक्षा मृत्यु को अधिक उपयुक्त समझा था (मर्तुमविधवैव वांछामि)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विधवाओं को पुनर्विवाह की छूट नहीं थी पर यह प्रथा मात्र उँचे वर्णो में ही थी। शूद्राएँ तथा निम्न श्रेणी की स्त्रियाँ पुनर्विवाह कर लेती थीं । स्त्रियाँ एक से अधिक पति नहीं रखती थी। पर पुरूष एक से अधिक पत्नियाँ भी रखते थे तथा पुनर्विवाह भी करते थे। हर्षचरित में बाण के पिता की दो पत्नियों का उल्लेख किया गया है। प्रियदर्शिका तथा रत्नावली से भी पता चलता है कि उनके नायकों ने अपनी रानी के रहते हुए अन्य कुमारियों से विवाह किया था। अन्तःपुर में अनेक स्त्रियाँ शासकों की सेवा में नियोजित रहती थीं। प्रभाकरवर्द्धन जिस समय मृत्यु-शैय्या पर पड़े थे अनेक स्त्रियाँ उनकी सेवा-सुश्रुषा में लगी थीं। चितारोहण के पूर्व अपने पुत्र से यशोमति का वाक्य है:- "आपीतौ युष्मद्विधै पुत्रैरमित्रकलत्रवन्दि बृन्दविधूयमानचामरमरूच्चलचीनांशुकपयोधरौ।" अर्थात्-इन मेरे स्तनों को जिनके उपर का चीनांशुक विजित सामंतों की बदी स्त्रियों द्वारा चमर हिलाने से मिलता है, तुम्हारे जैसे पुत्रों ने पान किया।[44] बृहष्पति [45] ने इस युग में नियोग को भी अव्यवाहारिक एवं निन्दनीय बताया। उन्होंने लिखा है कि मनु ने इसे गर्हित एवं उचित दोनों बताया। लेकिन कलि में वर्ज्य है। स्मरणीय है कि मनु[46] तथा नारद [47] स्मृति में भी नियोग की प्रशंसा की गयी है। इससे लगता है कि प्रारंभ में (क्योंकि मनु तथा नारद स्मृतियाँ बृहष्पति की अपेक्षा प्राचीनतर हैं) तो इसे मान्यता मिली थी पर बृहष्पति के रचनाकाल आते-आते (लगभग 600 ई0) यह प्रथा समाप्त हो गयी। इसीलिए वृहस्पति ने इसका विरोध किया।

तत्कालीन समाज में प्रचलित विवाह सबंधी नियमों तथा अन्य परम्पराओं के अध्ययन से समाज में स्त्रियों की स्थिति संबंधी समस्या उठ खडी होती है। बाल-विवाह, पुनर्विवाह तथा बहुविवाह संबंधी नियम अथवा परम्पराएँ यह दर्शाती हैं कि समाज में स्त्रियों का विशेष स्थान नही था। रत्नावली तथा प्रियदर्शिका के वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि सुख के लिए शासक दासियों से भी विवाह करते थे। हर्षचरित में हर्ष के दरबार का जो चित्र वर्णित किया गया है उससे भी ज्ञात होता है कि स्त्रियॉ भोग की साधन मात्र थीं तथा अपने हाव-भाव तथा विभिन्न अंगों के प्रदर्शन से राजा तथा सभासदों को आकर्षित करती थी। यह वारविलासिनियाँ सामान्य जनता के मनोरंजन का साधन न होकर राजकीय संपत्ति मानी जाती थी। चामरग्रहिणी सदा राजा की सेवा में तत्पर रहती थी। इस कार्य में अनेक स्त्रियॉ नियोजित की जाती थी। राजप्रासाद में इन वारविलासिनियों, नवयौवना सेविकाओं आदि की उपस्थिति से यह सहज में अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय स्त्रियाँ विलास की वस्तु थी न कि मनुष्य के जीवन रूपी रथ के दो पहियों में एक। समाज में सती प्रथा जैसी मान्यताएँ भी प्रचलित थी। यद्यपि यह नहीं मालूम होता कि सामाजिक विवेक-बुद्धि इसको कहां तक उचित समझती थी। 'कादम्बरी' में चंद्रापीड़ महाश्वेता को अपने प्रियतम की मृत्यु पर उसका अनुसरण न करने पर यह कहकर समझाता है कि जो अपने मित्र की मृत्यु पर आत्महत्या कर लेता है वह उस मित्र को उस अपराध का भागी बनाता है और दूसरे लोक में उसके लिए कुछ नहीं कर सकता, किंतु जीवित रहकर वह जलांजलिदान तथा अन्य क्रियाओं द्वारा उसको सहायता दे सकता है।[48] हर्षचरित से ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्द्धन की रानी यशोमती ने अपने पति की मृत्यु के पूर्व ही सती होने का निश्चय कर लिया था। यद्यपि हर्ष ने उन्हे बहुत समझाने-बुझाने का प्रयास किया पर सफलता नहीं मिली। अंततः वह सती हो ही गयी। इसी प्रकार ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद राज्यश्री ने भी सती होने के निश्चय से अग्नि में प्रवेश करने की पूरी तैयारी कर ली थी। यदि दिवाकरमित्र के साथ हर्ष ठीक समय पर न पहुँच गए होते तो निश्चिय ही हर्ष को राज्यश्री की राख ही मिली होती। नागानंद में जीमूतवाहन की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी मलयवती ने सती होने की इच्छा व्यक्त की थी। इसी प्रकार प्रियदर्शिका में विवृत है कि

विन्ध्यकेतु राजा के पराजित हो जाने पर उसकी सहधर्मिणी स्त्रियों ने मृत्यु का अवलम्बन लिया। कुछ अभिलेखों से भी सतीप्रथा के प्रमाण मिलते हैं। गुप्तकालीन एरण लेख में गोपराज की पत्नी अपने पति के साथ, जो हूणों के विरूद्ध युद्ध लड़ते हुए मारा गया था 510 ई0 मे सती हो गयी थी।[49] नेपाल अभिलेख (705 ई0) के अनुसार धर्मदेव की विधवा राज्यवती अपने पुत्र महादेव को शासन का भार देकर अपने को सती कर देने की बात कही थी। आगे चलकर यह प्रथा और बढ़ गयी। अग्नि पुराण (नवीं शती तक) में आख्यात है कि पति के शव के साथ अग्नि में प्रविष्ट होने वाली स्त्री स्वर्ग गमन करती है। 700 ई0 के आस-पास लिखी जाने वाली अंगिरस तथा हारीत स्मृतियों में सती प्रथा का समर्थन किया गया लेकिन मेघातिथि ने इसका विरोध किया। अतः हम कह सकते हैं कि उस समय सती प्रथा सर्वमान्य नहीं थी। अतः उपर्युक्त उदाहरणें से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सती प्रथा तत्कालीन जीवन का अनिवार्य अंग नहीं थी। यदि ऐसा होता तो बाण कादम्बरी तथा हर्षचरित में इस प्रथा का विरोध न प्रकट करता। राज्यश्री भी अपने निश्चय से पीछे नहीं हटती। वास्तव में यह विधवाओं की इच्छा पर निर्भर था कि वे सती हो या न हो समाज इसके लिए किसी को विवश नहीं करता था। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि सती प्रथा जो कुछ प्रचलित थी वह उत्तर भारत के राजघरानो तक ही थी। दक्षिण भारत मे इस प्रथा के अस्तित्व बहुत कम मिलते हैं और सुदूर दक्षिण में तो अपवाद स्वरूप ही थी।[50] कुरल में सतीप्रथा का एक भी उदाहरण नहीं मिलता।

विधवा होने के बाद धर्म परायण जीवन व्यतीत करना ही श्रेयष्कर समझा जाता था।[51] जो स्त्रियां सती नहीं होती थीं, वे न तो पुनर्विवाह करती थीं न जीवन के दूसरे सुखों का ही भोग करती थीं। वे श्वेत वस्त्र धारण करती थी तथा एक प्रकार की विधवावस्था की वेणी बांधती थीं जैसा कि प्रभाकरवर्द्धन की अंत्येष्टि के बाद हर्ष के शब्दों से विदित होता है।[52] उन दिनों स्त्रियाँ वैधव्य को अपने अभाग्य की पराकाष्ठा समझती थी। यशोमती अपने को मृत्यु-शैय्या पर देख हर्ष से कहती है इस समय मेरा जीना ही मरने से अधिक साहस का काम है।[53] इससे एक ओर भले ही स्त्रियों की पवित्रता का हम ढ़िढ़ोरा पीटें पर हमें यह मानना पड़ेगा कि उनके साथ अन्याय किया

जाता था। वे पूर्णतया पुरूषों के अधीन थी। पुरूषों को तो पुनर्विवाह की छूट थी पर उन्हें नहीं थी। यद्यपि इस प्रकार के आदर्श केवल उँचे वर्ग के लोगों में थे। निम्न कुल की स्त्रियाँ पति की मृत्यु के बाद विवाह कर लेती थी। अतः बहुत कुछ सीमा तक वे स्वतंत्र थीं।

वर्द्धन वंश कालीन सामाजिक जीवन में स्त्रियों की स्थिति के उपर्युक्त वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समवेत रूप से स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थीं तथा उनके साथ पक्षपात किया जाता था। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि उनकी स्थिति सर्वथा दयनीय ही थी। उचित प्रतीत नहीं होता। हर्षचरित से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों, विशेषकर उँचे घरानों की स्त्रियों को अध्ययन की सुविधा दी जाती थी। कुलीन समाज की महिलाएँ खूब शिक्षित होती थी।[54] कादम्बरी तथा हर्षचरित से ज्ञात होता है कि कादम्बरी, महाश्वेता तथा राज्यश्री को गायन, नृत्य, संगीत आदि की शिक्षा दी गयी थी। प्रियदिर्शिका तथा रत्नावली से विदित होता है कि स्त्रियॉ चित्रकला में भी प्रवीण थीं। हर्षचरित के अनुसार हर्ष ने दिवाकरमित्र को राज्यश्री को धार्मिक शिक्षा के लिए नियुक्त किया था। हुएनसांग के अनुसार हर्ष तथा उसके बीच दार्शनिक वार्तालाप के समय राज्यश्री भी उपस्थित रहती थी। स्त्रियों को इस युग में कतिपय राजनीतिक अधिकार भी मिले थे। कन्नौज के शासन में राज्यश्री का हस्तक्षेप अवश्य था चाहे उसका स्वरूप जो भी रहा हो। सातवीं शती ई0 में ही चालुक्य वंशीय विजय भट्टारिका द्वारा दक्षिणापथ में शासन करने का समर्थन मिलता है। नवीं शताब्दी ई0 मे जब उडीसा के ललितभरणदेव और उसके पुत्र की मृत्यु हो गयी तो सामन्तों ने विधवा रानी को शासिका बना दिया। समाज में परदा प्रथा प्रायः नहीं थी। राज्यश्री धार्मिक वाद-विवादों में पुरूषों के साथ भाग लेती थी। चीनी यात्री ने लिखा है कि बालादित्य की राजमाता ने मिहिरकुल के बन्दी बनाए जाने के उपरांत उसे देखने की इच्छा प्रकट की थी। इस प्रकार निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि यद्यपि इस युग में स्त्रियों को वैदिक युग की भांति स्थान नहीं मिला था और वे पुरूषों की जीवनसंगिनी के साथ-साथ भोग-विलास की साध्य बन गयी थीं तथापि समाज में उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, कन्या, स्त्री तथा माता के रूप में उनका यथेष्ट सम्मान किया जाता था। यशोमती सदृश्य माता

जो 'वीरजा', 'वीरजाया' और 'वीरजननी' थीं, किसी भी समाज के लिए शोभा एवं गौरव की वस्तु हो सकती है। वे तमाम हिंदु नारियों की भांति बड़ी ही पतिपरायणो थीं और साथ ही अपनी प्रजा के लिए एक माता के समान थीं। उनमें दूसरों के चरित्रों को जानने की अद्‌भुद शक्ति थी।[55] वे अपने सिद्धांतों की पक्की थीं और स्त्रीत्व की पवित्रता की साक्षात् अवतार थीं।[56] उनको सभी मानते और पूजते थे तथा उन्हें धार्मिक एव आध्यात्मिक विकास की स्वतंत्रता मिली थी।

हर्षचरित तथा चीनी यात्री के विवरण से तत्कालीन निवास-स्थान का वर्णन हमें प्राप्त होता है। सड़कों के किनारे-किनारे सरायें थीं। मकान ईटों तथा लकड़ी के तख्तों के बने होते थे, पर गरीब लोग निस्संदेह अपने मकान मिट्‌टी के बनाते थे। वे घास-फूस से छाये रहते थे। दीवारों पर चूनाकारी होती थी। भव्य अट्‌टालिकाएँ तथा कक्षाएँ लकड़ी की चौरस छतो से युक्त होती थीं। कमरों के फर्श प्रायः मिट्‌टी के होते थे और उन्हें गोबर से लीप कर पवित्र रखा जाता था।[57]

यद्यपि मकानों का बाहरी रूप सादा होता था, किंतु अदर आराम और सुविधा के सभी सामान मौजूद रहते थे। बैठने के लिए सब लोग मचियो का इस्तेमाल करते थे। राजकुल के लोग बडे-बड़े सरदार , राज-कर्मचारी तथा मध्य श्रेणी के लोग बैठने के लिए उन्हीं को व्यवहार में लाते थे। हॉ, उनमें अधिक मूल्य के सामान अवश्य लगाते थे और अनेक प्रकार से उन्हें बहुमूल्य वस्तुओं से सजाते थे।

राजाओं के महल अनेक कक्षाओं में विभक्त रहते थे। तीसरी कक्षा मे प्रवेश करने के बाद हर्ष ने अपने तड़पते हुए पीड़ित पिता को धवलगृह में देखा, जो कि महल के सबसे भीतर का हिस्सा था। धवलगृह का सबसे भीतरी हिस्सा (कमरा) जहाँ प्रभाकरवर्द्धन मृत्यु-शैय्या पर पड़े थे, 'सुवीथि' कहलाता था। उस पर तेहरा पर्दा पड़ा था। सुवीथि में भीतरी दरवाजे थे, जिन्हे दसद्वार कहते थे। उसमें खिड़कियाँ भी लगी थी। धवलगृह के उपर एक और छोटा-सा भवन था, जिसे चंद्रशालिका कहते थे। वहाँ मौल अथवा राज्य के

परंपरागत मंत्री मौन होकर बैठे थे। झंझरीदार बारजे थे, जिन पर महिलाएँ बैठती थीं और जो प्रग्रीवक कहलाते थे[58] हमे संजवन अथवा चतुःशाला, गृहावग्रहणी (देहली), अजिर (आंगन) आदि का नामोल्लेख भी मिलता है। महल के कमरो में मणिकुट्टिम अर्थात् मोतियों से जडी हुयी फर्श होती थी।[59] दीवारों पर चित्रकारी आदि करने के लिए बढिया पलस्तर किया जाता था [60] और उस पर रंग-बिरंग की चित्रकारी की जाती थी।[61] खंभों में मणियां जड़ी थीं और उनमें 'अवरोध' (अंतःपुर) की सुंदरी स्त्रियों का रूप प्रतिबिम्बित होता था। महल से लगी हुयी आनंद बाटिकाएँ थीं, जिनके अंदर फब्वारे (धारायंत्र) लगे हुए थे।

हर्षचरित तथा चीनीयात्री के विवरणों से तत्कालीन वस्त्राभरण एवं आभूषणों के विषय में जानकारी मिलती है। हुएनसांग ने लिखा है कि "इस समय कपास, रेशम, सन तथा ऊन के कपडे बनाए जाते थे। कपास की खेती की जाती थी। कौशेय या रेशमी जंगली रेशम के कीड़े से प्राप्त किया जाता था। क्षौम वस्त्र सन की सहायता से बनाया जाता था। बकरी के महीन बालों से कम्बल बनाया जाता था। कराल से भी वस्त्र बनाया जाता था। इसे जंगली जीवों के बालों से प्राप्त किया जाता था। यद्यपि यह बहुत कम मिलता था इसीलिए यह काफी कीमती भी होता था।"[62] उसने लिखा है कि "उत्तरी भारत में जहाँ सर्दी अधिक पडती थी, लोग छोटे तथा चिपटे वस्त्र पहनते थे। बौध धर्म के मानने वाले विविध प्रकार के कपडे व आभूषण पहनते थे। श्रमणों के वस्त्र तीन प्रकार के होते थे-सेंग-कियाची (सन्धाता), सांग-कियो-की (संकाक्षिका) तथा निफोसिन (निवासन)। इनकी बनावट एक समान नहीं थी बल्कि सम्प्रदाय के अनुसार थी। कुछ के किनारे चौडे होते थे तथा कुछ के छोटे या बड़े। संकाक्षिका बायें कंधे को ढके रहता था और दोनों बगलों को बंद कर लेता था। यह बायीं ओर खुला और दाहिनी ओर बंद रहता था तथा कमर से नीचे तक बना हुआ होता था। निफोसिन में न कमरपट्टी होती थी न फलरा। इसमें चुन्नट होता था तथा कमर में डोरी से बांध दिया जाता था। सम्प्रदाय के अनुसार कपड़ों का रंग भिन्न होता था। क्षत्रिय तथा ब्राह्मण स्वच्छ तथा अच्छे कपड़े पहनते थे। हुएनसांग और बाण दोनों ने ही सफेद रंग को सर्वाधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार सफेद वस्त्र को आदर से देखा जाता

था।[63] राजा तथा मंत्री अलग-अलग प्रकार के कपडे तथा आभूषण पहनते थे। ये फूलों से केश संवारते थे तथा टोपी ,कंकण, हार पहनते थे। व्यापारी सोने की अंगूठी पहनते थे तथा दांत रगते थे, बाल बांधते थे तथा कानों को छेदते थे।''[64] बाण ने हर्षचरित में भी स्त्री-पुरूषों के वस्त्राभरणों एवं अलंकरणों का उल्लेख किया है। बाण ने दधीच और उसके सुभट के सैनिको के वर्णन प्रसंग में लिखा है कि सुभट युवक कंचुक पहने थे तथा सिर पर चादर रखे थे। कमर में दोहरे कपड़े की पट्टी बंधी थी।[65] दधीच के साथ का वृद्धपुरूष सफेद कंचुक धारण कर रखा था तथा सिर पर दुकूल पट्टिका बंधी थी।[66] इनके अतिरिक्त हर्षचरित में ग्रात्रिका ग्रंथि (गर्दन के पीछे से दोनों कंधो पर लटकता वस्त्र, जिसके दोनों छोरों के स्तन के मध्य ग्रंथि के रूप में बांध दिया जाता था-स्थनमध्यवद्धगात्रिका ग्रंथ), अंशु कोष्ठीशपट्टिका (उष्णी पर बांधी जाने वाली पटिटका), चण्डातक (लंहगा), चोली (स्थाणीश्वर की स्त्रियॉ पहनती थी), मुरवावरण (मुख ढकने के लिए जालिका नामक वस्त्र), उत्तरीय (दुपट्टा अथवा चादर), भग्नांशु (शरीर से चिपकने वाले अत्यंत पतले वस्त्र)[67] का उल्लेख मिलता है। राजशेखर ने कान्यकुब्ज के वर्णन के प्रसंग में लिखा है कि ''कान्यकुब्ज की स्त्रियों का वेश नमस्कार करने योग्य है, जिसमें कर्णाभरण के हिलने से कपोल तरंगित हो रहे हैं, जो नाभि पर्यन्त लटकते हुए लम्बे शुद्ध मुक्ताहारों से सुशोभित हैं और जिसमें कमर में घुट्टी पर्यन्त लटकते हुए घंघरे (लहंगा) लहराते हैं।''[68] इसमें संदेह नहीं है कि राजशेखर हर्ष के बाद के हैं पर इससे यह सरलतापूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके पहले इस प्रकार के वस्त्रों एवं आभूषणों का प्रचलन रहा होगा। इनमें से कुछ की पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्यों से भी हो जाती है। उदाहरणार्थ अहिच्छत्र से चोली धारण किए हुए स्त्रियों की मूर्तियॉ मिली है जो 550-750 ई0 के बीच की मानी गयी हैं।[69] इसके अतिरिक्त स्त्रियॉ धोती का प्रयोग करती थीं। स्त्रियों के वस्त्र विविध प्रकार से अलंकृत किये जाते थे। कपड़े पर विविध प्रकार की छाप दी जाती थी। बाण ने कुटिलक्रम, रूप, पल्लव तथा परभाग नामक चार प्रकार की छपाई का उल्लेख किया है।[70] वस्त्रों पर सुंदर सितारों तथा चमकीले मोतियों से (सतरागरणेन) कढ़ाई भी की जाती थी। पुरूषों द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले वस्त्रों में बाण ने अधोवास (धोती)

उत्तरीय (दुपट्टा या चादर), नेत्रसूत्र (अधोवस्त्र के ऊपर बाधा जाने वाला रेशमी वस्त्र या पटका), पाजामा, कोट, आच्छादक आदि का उल्लेख किया है। पाजामा तीन प्रकार का होता था-स्वस्थान, पिंगा तथा सतुला। कोट भी चार प्रकार का बनता था-कंचुक, वारबाण, चीनचोलक तथा कूपसिक। कंचुक लबा कोट था। वारबाण घुटनों तक का होता था। चीन चोलक एक लंबा चोगा था। आच्छादक छोटी हल्की चादर थी जिसे गर्दन के पीछे से कंधों पर लाकर वक्षस्थल पर बांध देते थे। बाण ने जिन वस्त्रों का उल्लेख किया है निश्चित रूप से उनका प्रचलन कुलीन तथा संभ्रान्त लोगों मे था। जनसाधारण वर्ग के स्त्री पुरूष साधारण प्रकार के तथा सस्ते कपड़े पहनते थे। संभव है राजघरानों तथा कुलीनों की तड़क-भड़क से वे प्रभावित हुए हों तथा उनके अनुकरण की कोशिश की हो पर सीमित साधनों के कारण वे ऐसा न कर पाये हों।

जैसा कि उल्लिखित किया जा चुका है, हुएनसांग ने सूत, सन, रेशम, ऊन तथा कराल से निर्मित वस्त्रों का उल्लेख किया हैं। बाण ने क्षौम, बादर, दुकूल, लता, तंतुज, अंशुक तथ नेत्र नामक छः प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख किया है। क्षौम क्षुमा, या असली पौधे के रेशे से बनाया जाता था। यह श्वेत तथा कोमल होता था। बादर कपास से बनाया जाता था। दुकूल पौधों की छाल के रेशों से बनाया जाता था। इससे धोतियाँ, चादरें, गिलाफ आदि बनाए जाते थे। मतातंतुज को शंकर ने (कौशेल) रेशम माना है। क्षीरस्वामी के अनुसार यह कीड़ों की लार से बनाया जाता था। इससे बना पत्रोर्ण वस्त्र अत्यंत कीमती माना जाता था। अंशुक का निर्माण रेशम से किया जाता था। यह दो प्रकार का था-भारतीय तथा चीनी। अंतिम को चीनांशुक कहा जाता था। नेत्र भी एक रेशमी वस्त्र था। डा0 मोतीचन्द्र के अनुसार इसका निर्माण चौदहवीं शती ई0 तक बंगाल में होता था।[71]

वस्त्रों के साथ-साथ इस युग में नाना प्रकार के आभूषणों तथा रागद्रव्यों का प्रयोग भी किया जाता था। हुएनसांग ने लिखा है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय रत्न जड़ित टोपी, कंकण तना हार पहनते थे। बाण ने अपेक्षाकृत विशद वर्णन किया है। उसने मेखला, नुपूर, मुक्ताहार , प्रालम्बमाला, कण्ठा,

शेषहार, त्रिकंटक, बाली, कुण्डल, श्रवण, पत्राकुर, कर्णपूर, कर्णोत्पल, पत्रभंगम, मकरिक, बालपाश, शिखण्डाभरण, अंगूठी, हाटकटक, केयूर, चाटुला तिलक, चूड़ामणि आदि आभूषणें का उल्लेख किया है। दाण्डी ने दशकुमारचरित में मणिजणित नूपुर, मेखला, कंकण, कर्णपाश, हार आदि आभूषण का उल्लेख किया है। आभूषण का प्रयोग स्त्री तथा पुरूष दोनो करते थे। सम्पन्न श्रेष्ठी स्वर्ण कंकण पहनते थे। पैर मे पाहन(जूता) पहनने का रिवाज कम था। पुरूष काले अथवा लाल रंग के दाँत रंगते थे। सिर पर के बालों को सजाते थे तथा उष्णीश पहनते थे। शरीर को विविध प्रकार से संवारा भी जाता था। स्त्रियाँ बालों को अच्छी तरह सँवारती थी। वे चोटी के बालों की गुच्छी बना लेती थी। शेष नीचे लटकते रहते थे। बाण ने कई प्रकार के केश-विन्यास का उल्लेख किया है। केश विन्यास में तेल का प्रयोग किया जाता था। आंवले के तेल का उल्लेख मिलता है। इसके साथ-साथ ललाट, केश, अधर, पैर के तलवे आदि को विविध प्रकार से सुसज्जित करने तथा मुख को सुवासित करने का भी उल्लेख बाण ने किया है। सुगंधित द्रव्यों में सहकार, कपूर , इलाइची, आम, चम्पक, लवंग आदि का उपयोग किया जाता था। सुवासित करने के लिए शरीर पर कस्तूरी, चंदन, कपूर आदि का लेप भी किया जाता था। वारविलासिनियाँ कपूर की धूल से ऐसी धूसरित थीं मानों वे यौवन के लिए स्वेच्छा से संचरण करने की गलियॉ हों।[72] हुएनसांग ने भी लिखा है कि भारतीय चन्दन तथा केशर जैसे सुवासित द्रव्यों का अपने शरीर पर लेप लगाते थे।[73]

चीनी यात्री हुएनसांग ने तत्कालीन भारतीयों के असन (भोज्य) का वर्णन करते हुए लिखा है कि ये लोग दूध, दही, घी, शक्कर, खाड, सरसो का तेल तथा गेहूँ की रोटी खोते थे। फलों एवं सब्जियों में अमल, आम्ल मधूक, भद्र कपित्थ, आमला, तिन्दुक, उदुम्बर, मोय, नारिकेल, पनस आदि का इस्तेमाल करते थे। छोहारा, अखरोट, परिसिम्मन यहा नहीं होते थे। नासपाती, बेर, शफतालु, अंगूर आदि कश्मीर से मंगाया जाता था। अनार तथा नारंगी सब जगह होती थी। खरबूजा, कद्दू- हिय-टु, लहसुन, प्याज पैदा किया जाता था। पर अंतिम दो बहुत कम पैदा किया जाता था। और इसका प्रयोग गिने-चुने लोग करते थे। इनके खाने वाले को नगर के बाहर कर दिया जाता था।

मछली, हिरण, भेड़ आदि का ताजा मांस खाया जाता था। सांड़, गर्दभ, हाथी, घोड़े, सुअर,कुत्ते, लोमड़ी, भेडिया, सिंह, बन्दर आदि का मांस वर्जित था। इनका मांस खाने वाले निकृष्ट समझे जाते थे। ये अनेक प्रकार की मदिरा तथा आसव का प्रयोग करते थे। क्षत्रिय अंगूर तथा गन्ने की शराब पीते थे। वैश्य तेज जायकेदार शराब पीते थे। ब्राह्मण तथा श्रमण अगूर तथा गन्ने से बना एक शरबत पीते थे। ये व्यक्तिगत पवित्रता का बड़ा ध्यान रखते थे। भोजन करने के पूर्व स्नान करते थे। एक बार जो भोजन कर लिया जाता था उसका अवशिष्ट भाग जूठा मान लिया जाता था। अत. उसे ये दुबारा नहीं ग्रहण करते थे। मिट्टी के बर्तन का प्रयोग नहीं किया जाता था। पत्थर या लकड़ी के बर्तनों का एक बार प्रयोग करने के बाद उसे तोड डालते थे। चाँदी, तांबे, लोहे के बर्तन इस्तेमाल के बाद अच्छी तरह धोकर साफ कर लिये जाते थे। ये लोग प्रायः एक ही वर्तन में सभी खाना एक में मिलाकर खाते थे। खाना हाथ से ख़ाते थे। चम्मच, प्यालों आदि का प्रयोग नहीं किया जाता था। बीमारी अवस्था में तांबे के प्याले से पीने का काम लेते थे। भोजन के बाद खरिका (सींक) से दांतों की गंदगी निकाल कर मुँह साफ करते थे तथा हाथ-मुख अच्छी तरह धोते थे।

ये लोग शुचिता एवं पवित्रता का बड़ा ध्यान रखते थे। भोजन के पूर्व स्नान करते थे। शौच-त्याग के समय परस्पर एवं दूसरे को स्पर्श नहीं करते थे। मूत्र एवं मल त्याग के पश्चात् नियमित स्नान करते थे तथा चंदन एवं केशर जैसे सुगंधित द्रव्यों का अपने शरीर पर लेप करते थे। राजा के स्नान के समय वाद्ययंत्रों की ध्वनियों के साथ गायन होता था। लाइफ के अनुसार जब शीलादित्य (हर्ष) की शोभायात्रा निकलती थी तो प्रत्येक कदम पर वादक सुवर्णमण्डित ढोल पीटते हुए चलते थे। चीनी यात्री हुएनसाग ने भारतीयों के अभिवादन (प्रणामादि) के विषय में सविस्तार लिखा है। उसने लिखा है कि भारतीय कुशल क्षेम के साथ अभिवादन कर, आदर प्रदर्शित करने के लिए सिर झुका कर, शरीर झुका कर हाथ जोड़कर, हाथ जोड़कर नीचे झुक कर, घुटनों के बल झुक कर, दोनों घुटनों पर झुक कर , भूमि पर हाथ टेक कर, घुटनों पर झुक कर कोहनी तथा मस्तक भूमि पर टेक कर तथा साष्टांग दण्डवत् द्वारा अभिवादन करते थे। इनमें पृथ्वी पर दण्डवत् करके फिर एक घुटनों के

बल होकर प्रशंसा के शब्दों में स्तुति करने की विधि सबसे अच्छी एवं प्रशंसनीय मानी जाती थी। वैसे जब कोई व्यक्ति दूर रहता था तो झुक कर प्रणाम करना पर्याप्त था लेकिन निकट रहने पर पैर को चूम कर उसके घुटने को सराहना अच्छा माना जाता था। जब कोई श्रेष्ठ व्यक्ति अपने से किसी छोटे व्यक्ति को आदेश देता था तो आज्ञापित व्यक्ति अपने कुर्ते का दामन फैला कर दण्डवत् करता था। श्रेष्ठ व्यक्ति जिसके प्रति इस प्रकार का सम्मान प्रदर्शित किया जाता था, मधुर शब्दों से उसके सिर पर हाथ रख कर या पीठ ठोंक कर कुछ कहते थे तथा अपना प्रेम प्रदर्शित करते थे। जब किसी श्रमण अथवा धार्मिक व्यक्ति के प्रति इस प्रकार का सम्मान प्रदर्शित किया जाता था तो वह केवल आशीर्वाद देकर उत्तर देता था। सम्मान प्रदर्शित करने के लिए वे दण्डवत् ही नही करते थे बल्कि परिक्रमा भी करते थे। कभी-कभी एक और कभी-कभी तीन परिक्रमाएँ की जाती थीं।[74] हर्षचरित में यद्यपि अभिवादनों का इतना विस्तृत विवरण तो नहीं दिया गया है पर एक स्थल पर इससे संबंधित सूचनाएँ मिलती हैं। इसके अनुसार प्रणाम के चार प्रकार थे-सिर झुकाकर (नमन्तु शिरांशि), अंजली-वद्ध प्रणाम (घटन्तामन्जलयः), सम्राट् के चरणो तक सिर झुका कर (सुदृष्टः क्रियतात्मा मत्वरणरवेशु) तथा चरणों की धूल अपने मस्तक पर चढ़ाकर (थेखरी भवन्तु पादरजांसि)।[75] यथा जब भैरवाचार्य का संदेश वाहक पुष्यभूति के पास पहुँचा था तो शासक ने उसका आदर वचनो से स्वागत किया था।[76] भैरवाचार्य ने भी राजा से प्रथम मिलन के समय 'स्वस्ति' शब्द से राजा का अभिवादन किया था।[77] सम्राट् हर्ष से मिलने के पश्चात् जब बाण अपने गांव पहुँचे तो उन्होंने कुछ का अभिवादन किया तथा कुछ से वे स्वयं अभिवादित हुए। किसी ने उनका सिर चूमा तो किसी ने आलिंगन किया। कुछ ने उन्हें आशीर्वाद दिया तो कुछ को उन्होंने स्वयं आशीर्वाद दिया।[78] राज्यवर्द्धन ने जब हूणों के विरूद्ध अभियान से अपने पिता की अस्वस्थता का समाचार पाकर स्थाण्वीश्वर वापस आये तो हर्ष ने उनका गाढ़ आलिंगन किया।[79] इसी प्रकार यशोमती जब आत्मदाह के लिए जा रही थी तो अनेक प्रकार से हर्ष का आलिंगन किया था।[80] सरस्वती तथा सावित्री की सखी मालती जब दधीच के साथ उसके पास पहुँची तो उसने दूर से झुक कर प्रणाम किया और दोनों से आलिंगत हुयी। मालव राजकुमार माधवगुप्त तथा

कुमारगुप्त जब प्रभाकरवर्द्धन से मिले थे तो उन दोनों ने अपने चारो अंगो तथा सिर से पृथ्वी का स्पर्श कर प्रणाम किया था। ग्रहवर्मा का ताम्बूलवाहक पारिजातक प्रभाकरवर्द्धन को बाहुओ को फैलाकर सिर टेक कर प्रणाम किया था। भास्करवर्मा के दूत ने भी हर्ष को पांचों अंगो से भूमि का स्पर्श करते हुए प्रणाम किया था। अभिवादन के समय तात्, धीमन्, महाभाग, भद्र, आयुष्मन, महानुभाव, महानुभावा, भद्रे, आर्या, आर्य, देवानांत्रिय, देवि आदि शब्दों को प्रयोग किया जाता था।

बाण के ग्रंथ हमें उस समय के कुछ मनोरंजक तौर-तरीकों तथा रीति-रिवाजों से परिचित कराते हैं। संतान की इच्छा से स्त्रियॉ सभी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान करती थीं। उज्जैन के राजा तारापीड़ की रानी दुर्गा के मंदिर (चंदिका-गृह) में उपवास करती और कुश से आच्छादित मूसलो की शय्या पर लेटती थी। पीपल की टहनियो से युक्त सोने के कलशों से गोकुलों में सुलक्षण गायों के नीचे स्नान करती, ब्राह्मणों को सर्व रत्नों से युक्त एव तिल से पूर्ण सोने के पात्र दान करती, कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी की रात को चौराहों पर राजा द्वारा खींचे गऐ मंडल के बीच में खडी होती और मगलकारी स्नान का अनुष्ठान करती थी। वह नागसरों में स्नान करती, निमितज्ञों के पास जातीं, शकुन विद्या के जानने वालो का सम्मान करती, ताबीजे पहनती (जिनके अंदर भुर्जपत्र में गोरोंचन से लिखे हुए मंत्र रहते थे।) औषधि-सूत्रों को गडो के रूप में धागों मे पिरोकर बांधती। संध्या-समय सियारों के लिए मांस-पिडो को फेंकती तथा चौराहों पर शिव को अर्घ्य देती थीं।[81]

नई माता की आधिष्ठातृ देवी (साक्षाज्जात मातृदेवता) की मूर्ति जिसका मुह बिल्ली का सा होता था और बच्चों के दल से घिरी रहती थी, सूतिका-गृह में रख दी जाती थी।[82] राजा के बच्चे के जन्म के अवसर पर कैदी लोग जेलों से मुक्त कर दिए जाते थे[83] और दूकानें लुटाई जाती थीं।[84] हम देखते हैं कि हर्ष के जन्म के समय कतार की कतार दूकाने लुटवा दी गयी थीं। नवजात बच्चे को आशीर्वाद देने के लिए स्त्रियाँ आती थीं। हर्ष के जन्म के समय वे नाना प्रकार की मणियों से जड़े हुए हाथी दाँत के पात्रों में कुंकुम, फूल, माला, सुपारी तथा सिंदूर इत्यादि अपने साथ लाई थीं।[85] उपहार के द्रव्यो में

50-50 पान के पतों के बने हुए तांबूल-वृक्ष, जिनमें सुपारी के झौपे लटकते थे, शामिल थे। आजकल की भांति और जैसा कि सदा से होता आया है कि पुत्र के जन्म पर गाना बजाना होता था, जिसमे सम्मानित महिलाएँ और वेश्याएँ भी सम्मिलित होती थीं। रोग-दोष से बचाने के लिए बच्चों को तरह-तरह की ताबीजें पहनाई जाती थीं। बाण के कथनानुसार शिशु हर्ष के सिर पर सरसो का ताबीज पहनाया जाता था और उनके गले में बाघ का नख।[86]

कुलीन समाज में विवाह का उत्सव बड़े धूम-धाम से मनाया जाता था। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर महल में चारो ओर आनंद ही आनंद ही छा गया था। आंगनों में इंद्राणी की मूर्तियाँ स्थापित की गई थीं।[87] विवाह की वेदी की स्थापना बढ़इयों ने की थी।[88] विवाहिता वधू के उपहारों का जिसमें हाथी, घोड़े आदि थे-निरीक्षण किया जा रहा था[89] सुनारों के समूह दुलहिन के गहने बनाने में लगे थे और उनके शब्दों से बाहर के चबुतरे गूँजने लगे थे[90] चतुर चित्रकारों ने मांगलिक द्रव्यों के चित्र (दूल्हें को उपहार रूप मे भेजने के लिए) बनाए।[91] मछली, मगर, कछुआ, नारियल, केला, तांबूल-वृक्ष, की मिट्टी की मूर्तियाँ बनाई गयी थीं।[92] ये भी उपहार के रूप में वर के पास भेजने के लिए तैयार किये गए थे। सुहागिन स्त्रियाँ तरह-तरह के कामो में लगी हुयी थीं और सुंदर मांगलिक गानों से जिनमें दूल्हा-दूल्हन के नामों का जिक्र था, कानों को तृप्त कर देती थी।[93] उन्होंने लता और पत्तियों के चित्र बनाकर प्यालों तथा मिट्टी से सफेद किए कच्चे घडों को अलंकृत कर दिया था।[94] विवाह के लिए बारात के साथ वर एक हाथी पर सवार होकर स्वयं कन्या के मकान पर आता था।

विवाह समुचित लगन पर होता था, जिसका व्यतीत हो जाना विपत्तिजनक समझा जाता था। कन्या विवाहोत्सव के उपयुक्त एक विशेष प्रकार का वस्त्र धारण करती थी। विवाह अग्नि के सामने वेदी पर ब्राह्मणों को साक्षी मानकर किया जाता था। उपाध्यायों द्वारा प्रज्वलित अग्नि में हवन किया जाता था, जिसके उपरांत वर अग्नि की प्रदक्षिणा करता था। लाजों की अंजलि अग्नि में अर्पण की जाती थी। विवाह हो जाने पर वर अपनी वधू के साथ श्वसुर को प्रणाम करता था और फिर अपनी वधू के साथ अपने विवाहित

जीवन की प्रथम रात्रि आवास-गृह में व्यतीत करता था। बाण लिखता है कि ग्रहवर्मा का विवाह हो जाने पर वह अपनी वधू के साथ वास-गृह में चला गया, जिसके द्वार पर रति और प्रीति का मूर्तियाँ चित्रित थीं।[95] कमरे के भीतर मंगल-प्रदीप जल रहे थे, उसमें एक ओर पुष्पित रक्ताशोक चित्रित था , जिसके तले शर-संधान करता हुआ कामदेव खडा था।[96]

उन दिनों लोग अनेक प्रकार के व्रत करते और उत्सव मनाते थे। प्रियदर्शिका में हम वासवदत्ता को व्रत करते तथा स्वास्ति-वाचन के लिए विदूषक को बुलाते हुए पाते हैं। स्त्रियाँ संतान के जन्म के समय, विवाह के समय तथा अन्य विविध अवसरों पर नाना प्रकार के मांगलिक अनुष्ठान करतीं थीं।

बाणकृत हर्षचरित, कादम्बरी तथा अन्य समकालीन साहित्य ग्रंथों से हर्ष कालीन मनोरंजन के साधनो पर प्रकाश पड़ता है। मनोरंजन के प्रमुख साधन गोष्ठियाँ, नृत्य, शयन, वादन, रंगमंच, इन्द्रजाल, यमपट्टिक, शतरज, पशुपक्षी, पालन थे। बाण ने अनेक प्रकार की गोष्ठियों का उल्लेख किया है, जैसे विद्वतगोष्ठी, वीरगोष्ठी आदि। वीरगोष्ठियों में वीर पुरूषों की कहानियों का कथन-श्रवण होता था। महापुराण जिसकी रचना नवीं शती ई0 में जिनसेन ने की थीं, में पदगोष्ठी , काव्यगोष्ठी, जल्पगोष्ठी, गीतगोष्ठी, नृत्यगोष्ठी, वाद्यगोष्ठी, वीणागोष्ठी का उल्लेख किया गया है। पदगोष्ठी, काव्यगोष्ठी तथा जल्पगोष्ठी की समता बाण के विद्यागोष्ठी से की जा सकती है। वात्स्यायन ने लोकविद्विष्टा, परहिंसात्मिका तथा क्रींड़ामत्रिककार्या नामक गोष्ठियों की चर्चा की है। स्मरणीय है कि हिंसात्मक गोष्ठियॉ प्रारंभ से ही भारतीय जन-जीवन की अभिन्न अंग थी तथा समाज में इनका प्रचलन था। पर अशोक के समय इसे निरूत्साहित किया गया तथा उसने इस प्रकार की गोष्ठियों का स्पष्ट विरोध किया । हर्ष के समय में संभवतः यही स्थिति थी। यद्यपि बाण हर्ष को, जिस समय उसने राज्वर्द्धन का हूणों के विरूद्ध अभियान के समय अनुसरण किया था, शिकार में व्यस्त दिखाता है, पर लगता है मृगया का सार्वदेशिक प्रचलन नहीं था। इसका कारण बौद्ध धर्म का प्रभाव ही माना जा सकता है। मनोरंजन के अन्य साधन नृत्य, गायन तथा वादन थे। बाण ने आरभटी नृत्य

का उल्लेख किया है। यह पॉच प्रकार का था-मण्डली, रेचक, रासरस, रससारब्धनर्तन तथा चटुलशिखानर्तन। मंडली नृत्य में एक नर्तक स्त्रियों के बीच नाचता था। शंकर ने तीन प्रकार के रेचक नृत्य बताया है। कटि रेचक, हस्तरेचक तथा ग्रीवा रेचक। रास में आठ, सोलह अथवा बत्तीस व्यक्ति मंडलाकार नृत्य करते थे। रससारब्धनर्तन मे अत्यंत वेग से हाथ-पैर का संचालन किया जाता था। आरभटी नृत्य के उदगम के विषय में कुछ स्पष्टतः ज्ञात नहीं है। डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार भारतीय रास तथा यूनानी हल्लीसक के मिश्रण से प्रांरभ नृत्य शैली ही आरभटी शैली थी।[97]

हर्ष के जन्म के अवसर पर विविध प्रकार के नृत्य आयोजित किये गये थे तथा स्त्रियाँ, कुलपुत्र, दासियां, प्रतिहारी आदि सभी नृत्य में मस्त थे। रत्नावली में हर्ष ने बसन्तोत्सव के उपलक्ष्य में पुरूषों तथा स्त्रियों के नृत्य करने का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नृत्य तत्कालीन जीवन में मनोरंजन के साधनों में अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता था तथा सामान्य एवं विशिष्ट दोनों अवसरों पर लोग इससे मनोरंजन करते थे। इसे शिक्षा में सम्मिलित किया जाता था।

राज्यश्री को उसकी समुचित शिक्षा दी गयी थी। नृत्य के साथ-साथ गायन का भी प्रचलन था। वास्तव में दोनों का अन्योनाश्रित संबंध है। शिक्षा में इसका भी समाहार किया गया था तथा राज्यश्री को नृत्य के साथ गायन की भी शिक्षा प्रदान की गयी थी। बाण ने ध्रुवगीत का उल्लेख किया है जो इस बात का प्रमाण है कि इस समय अनेक प्रकार के राग प्रचलित थे। हर्ष के जन्मोत्सव तथा राज्यश्री के विवाहोत्सव के समय अनेक प्रकार के मागलिक गीत गाये गये थे। रत्नावली में द्विपदी, खण्ड गीत तथा पुरावासियों द्वारा गाये जाने वाले गीतों का उल्लेख मिलता है। इससे यह सुविदित हो जाता है कि इस समय शास्त्रीय तथा लोक प्रचलित दोनों गीतों का प्रचलन था तथा इन्हे सामूहिक एवं व्यक्तिगत दोनों रूपों में मनोरंजन के साधन के रूप में गाया जाता था।

नृत्य एवं गायन के अभिन्न अंग वादन भी इस काल के मनोरंजन के मुख्य साधन थे। हुएनसांग ने लिखा है कि राजा की सवारी के समय अनेक

प्रकार के बाजे बजाये जाते थे। बाण ने हर्ष के जन्मोत्सव के समय शख, दुंदुभी, पटह आदि के बजने का उल्लेख किया है। रत्नावली में मृदग का उल्लेख मिलता है। वीणा का उल्लेख नागानद में किया गया है। जीमूतवाहन मलयवती के बीणा से आकृष्ट होकर ही उसकी ओर गया था। उसकी वीणा वादन की कला की प्रशंसा करते हुए जीमूतवाहन कहता है कि "इस गाने मे वीणा बजाने की दशो प्रकार की व्यंजनरीति स्पष्ट हो रही है, तीनो प्रकार के लय द्रुत, मध्य, विलम्बित स्पष्टतः मालूम पडते हैं। गोपुच्छा आदि तीनों यतियॉ हैं तथा तत्व, ओध एवं अनुगत भी स्पष्ट हैं।"[98] नागानंद के इस श्लोक से जहाँ स्वयं कवि हर्ष के संगीत शास्त्र में पांडित्य का पता चलता है, वहीं तत्कालीन समाज में इस शास्त्र के प्रचलन तथा तत्कालीन शास्त्रीय संगीत की पारंगतता का भी आभास मिल जाता है। रंगमंच, इन्द्रजाल, यमपट्टिक, शतरंज, आदि अन्य मनोरंजन के साधन थे। स्वयं हर्ष ने तीन नाटिकाओ की रचना कर रंगमंच पर प्रदर्शित किया था। रत्नावली में भरतमुनि को संबोधित किया जाना इसका स्पष्ट प्रमाण है कि इस समय वे नाट्यशास्त्र के आदर्श माने जाते थे। इन्द्रजाल का प्रदर्शन करने वाला एन्द्रजालिक कहा जाता था। यह एक प्रकार से बुद्धि का चमत्कार था। रत्नावली में एक प्रदर्शनकर्ता स्वयं कहता है कि वह पृथ्वी पर चन्द्रमा या आकाश मे पर्वत या जल में आग दिखा सकता है। इस प्रकार वह अपनी बुद्धि के विलास से असंभव प्रतीत होने वाले कार्यों का प्रदर्शन करता था। बाण ने यमपट्टिक का उल्लेख किया है। चकोराक्ष नामक एक जादूगर बाण का मित्र था। बाजार की सडकों पर जहॉ बड़ी भीड़ लगती थी यमपट्टिक एक चित्र के द्वारा जिसे यम-पट, कहते थे लोगों को परलोक का हाल बतलाते थे। इस यमपट में अन्य वस्तुओं (दृश्यों) के साथ यमराज को भैंसे पर आरूढ़ दिखाया गया हैं।[99] दण्डी के दशकुमारचरित में भी ऐन्द्रजालिक द्वारा खेल दिखाने का उल्लेख मिलता है। बाण ने अंधकारित ललाट पट्टाष्टपाद के रूप में एक ऐसे पट का उल्लेख किया है जो शतरंज का परिचायक है। शतरंज तथा पासे के खेल लोकप्रिय थे और उनका अनेक बार उल्लेख हुआ है।[100] फिरदौसी ने लिखा है कि भारतीय शासक ने शतरंज का खेल ईरान भेजा था। एक अनुश्रुति से पता चलता है कि पुलकेशी के राज-दरबार में खुसरू नौशेरखाँ ने एक दूत भेजा था। पह्लवी

भाषा में निबद्ध मादीगान-ए-शतरंज नामक काव्य से पता चलता है कि किसी भारतीय शासक ने खुसरू नौशेरखां के दरबार में बत्तीस मोहरों वाला शंतरंज विद्वानों की परीक्षा के लिए भेजा था। इन सभी साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष के समय शतरंज भी खेला जाता था। इन विविध आयोजनों तथा संगीत, गायन, वादन, नृत्य आदि के साथ-साथ वे लोग पशु-पक्षी भी पालते थे। बाण ने हर्ष के राजकीय वैभव में पशुपक्षियों की भी चर्चा की है। भास्करवर्मा ने हर्ष को जो उपहार भेजा था, उसमें पशुपक्षी भी सम्मिलित थे। बाण ने इस प्रसंग में किन्नर, वनमानुष, जीव-जीवक, जलमानुष, कस्तूरी हिरण, पालतू चवरी गाय शुकसारिका चकोर आदि का उल्लेख है।

चीनी यात्री हुएनसांग ने तत्कालीन भारतवासियों के अन्त्येष्टि संस्कार का भी विषद वर्णन किया है। उसने लिखा है कि जब कोई व्यक्ति मर जाता था तो लोग जोर-जोर से रोते थे, अपने कपड़े फाड़ डालते थे तथा बाल बनवाते थे। पर न तो शोकसूचक वस्त्र धारण करते थे न शोककाल की कोई अवधि निश्चित रहती थी। उसके अनुसार शवदाह की तीन विधियॉं प्रचलित थीं-अग्निदाह, जलप्रवाह तथा परित्याग। प्रथम विधि में मृतक को अग्नि में जला दिया जाता था। इसके लिए लकड़ी की एक चिता बनायी जाती थी तथा उस पर शव को रख कर भस्म कर दिया जाता था। जलप्रवाह में शव को गहरे पानी में डुबोया तथा परित्याग में शव को घने जंगल में छोड़ दिया जाता था। अंतिम में उसे जंगली जानवर खा जाते थे। जब तक अशौच का समय समाप्त नहीं हो जाता था, तब तक कोई मृत व्यक्ति के परिवार के साथ भोजन नहीं करता था। शव के साथ जानेवाले स्नान किए बिना शुद्ध नहीं हो सकते थे।[101] राजा की जब मृत्यु हो जाती थी तो पहले से नियत उत्तराधिकारी उसका मृतक संस्कार करता था। मृत्यु के बाद राजा की पदवियाँ, जो उसे जीवित अवस्था में मिली रहती थीं, समाप्त हो जाती थीं।

स्मरणीय है कि हुएनसांग द्वारा वर्णित इन शवधान की तीनों विधियों में से दो का तो प्राचीन धर्मशास्त्रों में उल्लेख मिलता है, पर अंतिम का नहीं मिलता। यह प्रथा पारसीकों में प्रचलित थी। पारसीक शवों को पेडों पर लटका देते थे तथा उसे पशुपक्षी को खाने के लिए छोड़ देते थे। ऐसा वे

अग्नि, जल, वायु, तथा पृथ्वी, जिसे वे पवित्र मानते थे, की पवित्रता अक्षुण्ण रखने के लिए करते थे। संभव है हुएनसांग ने इस प्रथा को पारसीकों में प्रचलित परम्परा को देखकर ही उल्लिखित किया हो।

चीनी विवरण के साथ-साथ हर्षचरित मे प्रभाकरवर्द्धन की अन्त्येष्टि का जो विवरण मिलता है, उससे भी तत्कालीन दाह-क्रिया तथा उससे सबंधित कृत्यों की जानकारी मिलती है। प्रभााकरवर्द्धन के शव को एक अर्थी पर रखकर सांमत तथा नगर के लोग अपने कंधों पर सरस्वती के तट पर ले गये थे।[102] इसके अनुसार पहले शवपेटिका बनायी जाती थी फिर इसे शमशान भूमि तक लोग कंधा देकर ले जाते थे। शमशान भूमि में काष्ठ की एक चिता बनायी जाती थी जिस पर शव रखा जाता था। धनिक लोग शव-शायिका को विविध प्रकार से अलंकृत करते थे। दाह-क्रिया के उपरांत अवशिष्ट भस्मावेशेषों का संचय किया जाता था। इस विधि को पुष्पचयन कहा जाता था। प्रभाकरवर्द्धन के भस्मावशेषों को चुनकर कलश में स्थापित किया गया था तथा इसे हाथियों पर रखकर विभिन्न तीर्थों में भेजा गया था। चीनी यात्री ने लिखा है कि जिस घर में मृत्यु होती थी, उसमें भोजन नहीं किया जाता था। वार्षिकी नहीं की जाती थी। मृतक के दाह-कर्म में योग देने वाले अशुद्ध समझे जाते थे तथा उन्हें नगर के बाहर स्नान कर गाव जाना पड़ता था। बाण ने लिखा है कि मृतक के लिए उबले चावल के पिण्ड दिये जाते थे। प्रेतपिण्ड खाने वाले ब्राह्माणों को भोजन कराया जाता था। दस दिन तक अशौच रहता था। ग्यारहवें दिन एकादशाह होता था और इसी दिन अशौच समाप्त होता था। अशौच समाप्ति पर ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था तथा पलंग, बर्तन, वाहन आदि ब्राह्मणों को दान दिया जाता था। चिता स्थान पर चैत्य स्थापित किये जाते थे। तत्युगीन अन्त्येष्टि के संवंध में बाण का विवरण अधिक यौक्तिक लगता है। भारतीय धर्मशास्त्रों में भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी और आज भी स्थानीय अंतरों के साथ प्रचलित है।

सन्यासियों के विषय में चीनी यात्री ने लिखा है कि किसी सन्यासी के माता-पिता की मृत्यु पर सन्यासी न शोक मनाता था न रोता था। बल्कि उनके प्रति भक्ति प्रदर्शित कर उनसे प्रार्थना करता था तथा उनके सुकृत्यों का

स्मरण करता था। सन्यासियों का ऐसा विश्वास था कि ऐसा करने से उनका ज्ञान बढेगा।

हुएनसांग ने तत्कालीन प्रचलित एक अन्य प्रथा का उल्लेख किया है।[103] यह प्रथा आत्म-त्याग से संबंधित है। उसने लिखा है कि वृद्ध एवं अशक्त, जिनका मृत्युकाल निकट रहता था, अथवा जो कठिन रोग से ग्रसित रहते थे, जो अपने जीवन काल को बढ़ाना नहीं चाहते थे अथवा जो ससार के जीवन संबंधी कष्टदायक कार्यों से बचना चाहते थे, अपने मित्रो तथा सबंधियों के हाथ उत्तम भोजन ग्रहण कर गाने-बजाने के साथ एक नाव में बैठते थे तथा गंगाजी के बीच जाकर जल में कूद जाते थे। उनका विश्वास था कि ऐसा करने से देवताओं में जन्म मिलता है। इनमें नदी के किनारे शायद ही कोई जीवित रहता था। हुएनसांग ने वट वृक्ष से कूद कर आत्मदाह करने की बात लिखी है। इसके नीचे अस्थियों के ढेर मिले हैं।[104] प्रसंगत· इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि जीवन से ऊब कर आत्मदाह की प्रथा प्राचीन भारत की एक सुविदित प्रथा थी। अफसढ़ लेख से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त (परवर्ती गुप्त नरेश) ने प्रयाग में अग्नि में कूद कर आत्मदाह किया था।[105] मृच्छकटिक के अनुसार शूद्रक ने एक सौ वर्ष तथा दस दिन की अवस्था प्राप्त करने पर अग्नि में प्रवेश कर जीवन त्यागा।[106] प्रो0 के0 सी0 चट्टोपाध्याय के अनुसार धंग, गांगेयदेव, रामपाल तथा चालुक्य आहबमल्ल ने प्रयाग में आत्महत्या किया था।[107] कूर्मपुराण[108] तथा ब्रह्मणपुराण[109] वट वृक्ष से कूद कर आत्म त्याग का उल्लेख किया गया है। कूर्मपुराण[110] में जल में प्रवेश कर भी आत्महत्या करने की बात लिखी गयी है। अतः इस संबंध में चीनी यात्री का वर्णन भी वास्तविक प्रतीत होता है।[111]

जैसा कि हम जानते हैं नागानंद, प्रियदर्शिका एवं रत्नावली जैसी उत्कृष्ट नाटिकाओं की रचना करके हर्ष ने अपने को संस्कृत साहित्य के अमर कवियों में स्थापित कर लिया। पर वे इससे ही संतुष्ट नहीं रहे। उन्होंने साहित्यिक प्रगति के लिए संस्कृत के कवियों एवं विद्वानों को उचित आश्रय दिया। बाण, मयूर, मातंगदिवाकर, धावक आदि इसी कोटि में आते हैं। बाण के पुत्र भूषणभट्ट भी इसी युग में आविर्भूत हुए थे, जिन्होंने अपूर्ण कादम्बरी को

पूर्ण किया था। इन्हें भट्टपुलिन के नाम से भी प्रसिद्धि मिली थी। कुछ विद्वानों की सम्मति में महाकवि दण्डी की युवावस्था भी हर्ष के दरबार में व्यतीत हुआ था। यदि इस वक्तव्य मे कुछ सच्चाई है तो हम कह सकते हैं कि दशकुमारचरित, काव्यादर्श एव अवन्तिसुन्दरी कथा का प्रणयन भी हर्ष के ही समय मे किया गया था।[112] कतिपय पुराविदो की मान्यता है कि हरिदत्त नामक एक अन्य कवि भी हर्ष का आश्रित कवि था। शतकत्रय के लेखक भर्तृहरि को भी हर्ष का समकालीन माना गया है। यद्यपि वे हर्ष के दरबारी कवि नहीं थे।[113] हर्ष के विद्यानुराग तथा विद्वानों को उचित आश्रय मिलने के कारण इस युग में शिक्षा एवं साहित्य को पल्लवित एवं पुष्पित होने का सुयोग मिला। तत्कालीन शिक्षा एवं साहित्यिक प्रगति पर टिप्पणी करते हुए चीनी यात्री ने लिखा है कि "कुछ लोग ऐसे थे जो प्राचीन सिद्धांतों में दक्षता प्राप्त कर धार्मिक अध्ययन में लग जाते थे तथा सादा जीवन व्यतीत करते हुए संसार से विरत रहते थे। इनकी दृष्टि में सासारिक सुख व्यर्थ था। सांसारिक सुख की भांति इन्हें अपने यश की भी चिंता नहीं रहती थी। फिर भी इनका नाम दूर-दूर तक फैल जाता था। राजा लोग इनकी बडी प्रतिष्ठा करते थे लेकिन कोई इन्हें अपने दरबार तक नही बुलाता था। देश के जाने-माने लोग इनका सम्मान करते थे तथा सर्वसाधारण इनकी प्रसिद्धि को बढाते हुए इनकी सेवा करते थे। तथा सम्मानित करते थे। इसी कारण ये लोग कष्ट की परवाह न करके अत्यंत निष्ठा एवं अभिरूचि से विद्याभ्यास में लग जाते थे तथा तर्क-वितर्क द्वारा ज्ञान का अनुसंधान करते थे।[114] यद्यपि इनके पास धन की कमी नहीं रहती थी तथापि जीविका की तलाश में ये इधर-उधर घूमा करते थे। कुछ लोग ऐसे थे जो विद्वान होकर भी निर्लज्ज होकर धन को केवल अपने सुख के लिए खर्च करते थे। वे धर्म से विमुख रहते थे। उनका धन मुख्य रूप से उत्तम भोजन तथा वस्त्र में खर्च होता था। न तो उनका कोई धार्मिक सिद्धांत था न विद्या वृद्धि का लक्ष्य। ऐसे लोगों की तनिक भी प्रतिष्ठा नहीं रहती थी तथा दूर-दूर तक उनकी बदनामी ही होती थी।[115] चीनी यात्री के इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि शासकीय सम्मान तथा प्रतिष्ठा के कारण लोगों में विद्याध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ती थी तथा विद्या एवं शास्त्र ज्ञान के जिज्ञासु सैकड़ों कि0 मी0 की यात्राएँ कर दूर-दूर तक शिक्षा केन्द्रों में

अध्ययनार्थ पहुँचते थे।

चीनी यात्री के विवरण से तत्कालीन शिक्षा प्रणाली पर किंचित प्रकाश पडता है। उसने लिखा है कि "भारतीय वर्णमाला के अक्षर ब्रह्मा ने बनाया था और वही वर्णमाला आज तक प्रचलित है। इनकी संख्या 47 है। ये इस प्रकार से सुसम्बद्ध हैं कि इच्छा तथा आवश्वकतानुसार सब प्रकार के स्वरूप (विभक्तियाँ) भी काम में आते हैं। यह वर्णमाला भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैल गयी तथा आवश्यकतानुसार इसकी कई शाखाएँ हो गयी। इसी कारण शब्दों के उच्चारण में कुछ परिवर्तन हो गया पर अक्षरों के रूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मध्य भारत में पवित्रता के विचार से भाषा का मूल स्वरूप प्रचलित है। यहाँ का उच्चारण देवताओं की भाषा के समान मधुर तथा ग्राह्य है। उच्चारण शुद्ध तथा स्पष्ट होता है तथा सभी के लिए उपयुक्त है। सीमांत प्रदेश के लोगों ने लम्पट स्वाभाववश उच्चारण में फेर-बदल करके कुछ अशुद्धियों को स्थान दे दिया है जिससे उनकी भाषा का स्वरूप बिगड जाने वाली है।" चीनी यात्री के अनुसार बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा "सिद्धवस्तु" नामक पुस्तक (सिह-ति-चंग अथवा सिह-ति-लो-सु-तो) से प्रारंभ की जाती थी। इसमें 12 अध्याय थे। इससे बालकों को वर्ण-परिचय मिलता था। इस पुस्तक के प्रारंभ में 'सिद्धम' लिखा होता था जिसका आशय है कि अध्येता को सिद्धि मिले। कुछ लोगों की मान्यता है कि सिद्धम के आगे "नमो सर्वज्ञ बुद्ध" भी जुड़ा होता था। इत्सिंग ने लिखा है कि छः वर्ष का होने पर बालकों को सिद्धम पुस्तक पढ़ायी जाती थी तथा इसके अध्ययन में छः मास लगते थे। सात वर्ष के हो जाने के पश्चात् नवयुवकों को पंच-विद्या पढ़ायी जाती थी। पहली विद्या शब्द विद्या थीं इसमें शब्दों का व्याकरण संबंधी ज्ञान दिया जाता था। दूसरी विद्या शिल्पस्थानविद्या (किऔ-मिंग) थी। इसमें शिल्प, कला, आदि के ज्ञान के साथ-साथ यिन तथा यंग सिद्धांतों तथा पंचांग का ज्ञान दिया जाता था। तीसरी विद्या चिकित्साविद्या थी। इसमें शरीर शिक्षा (रक्षा), गुप्त मंत्र, औषधिपरक पत्थरों, दर्दनिवारणार्थ सूच्याभेदन तथा जड़ी-बूटियों की शिक्षा दी जाती थी। चौथी विद्या हेतु विद्या (तर्क अथवा न्याय शास्त्र) थी। इसमें सत्यासत्य के निर्णय करने की शिक्षा दी जाती थी। पांचवीं विद्या

आध्यात्म विद्या थी। इसमें पंचयानों का ज्ञान कराया जाता था। प्रत्येक बौद्धाचार्य तथा पण्डित को इन पाँचों विद्याओं का ज्ञान आवश्यक था। तत्कालीन शिक्षा प्रणाली पर चर्चा करते हुए इत्सिंग ने लिखा है कि पांचों विद्याओं का अध्ययन व्याकरण से शुरू होता था। व्याकरण मे सर्वप्रथम पाणिनि के सूत्रों का ज्ञान कराया जाता था। बालक आठ वर्ष की उम्र से इसके सूत्र सीखने लगते थे तथा आठ माह में उसे कंठस्थ कर लेते थे। इत्सिंग ने लिखा है कि धातुओं से संबंधित पुस्तक में एक हजार श्लोक होते थे। धातुओं के ज्ञान के बाद तीन खिलों की जानकारी करायी जाती थी। तीन खिलों से तात्पर्य अष्टधातु (जिसमें 1000 श्लोक थे), वेन-च (मुण्ड जिसमें 1000 श्लोक थे) तथा उणादि (1000 श्लोक) के अध्ययन से है। इत्सिंग ने लिखा है कि दस वर्ष की उम्र में प्रारंभ कर तीन वर्ष मे बालक परिश्रम कर इसका ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। इनके बाद जयादित्य की काशिकावृत्ति पढ़ायी जाती थी। इसमें 18000 श्लोक पन्द्रह वर्ष की उम्र से प्रारंभ कर पॉच वर्ष में पूरा कर लेता था। काशिकावृत्ति के बाद व्याकरण के विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी चूर्णि (पतंजलि महाभाष्य), भर्तृहरिशास्त्र, वाक्यप्रदीप-पेइ-ना(इसमें भर्तृहरिकृत 3000 श्लोक थे और धर्मपाल ने 14000 श्लोकों में इसकी टीका की थी), का अध्ययन करते थे। इनमें अंतिम तीनों को भर्तृहरि की रचना माना गया है।[116] इत्सिंग ने लिखा है कि जो व्यक्ति इन ग्रंथों का अध्ययन कर लेता था वह व्याकरण शास्त्र का मर्मज्ञ हो पाता था। इनका अध्ययन भिक्षु तथा उपासक दोनों करते थे। इनके अध्ययन के उपरांत ही वे बहुश्रुत हो पाते थे। इत्सिंग ने लिखा है कि व्याकरण के अध्ययन के बाद बौद्ध भिक्षुओ को त्रिपिटक, निकायसूत्र, शास्त्र, मात्रिचेत रचित 150 तथा 400 पंक्तियो के दो स्तोत्र तथा अश्वघोष रचित बुद्धचरित काव्य का अध्ययन करना पडता था। निकायों में इत्सिंग ने आर्यमहासंधिक निकाय, आर्यस्थविर निकाय, आर्यमूलसर्वास्तिवाद निकाय, आर्यसम्मितनिकाय का उल्लेख किया गया है। इत्सिंग ने बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अध्ययन किए जाने वाले योग ग्रंथों में वसुबन्धुकृत विद्यामात्र तथा विद्यामात्रसिद्धि-त्रिदशशास्त्रकारिका, असंगकृत महायान सम्परिग्रह शास्त्रमूल तथा अभिधर्मशास्त्र, बसबन्धुकृत मध्यान्त विभाग शास्त्र, उल्लङ्ख्कृत निदानशास्त्र, असंगकृत सूत्रालंकारटीका तथा वसुबन्धु कृत

कर्मसिद्ध शास्त्र का उल्लेख किया है। इत्सिग ने हेतु विद्या के अन्तर्गत अध्ययन किये जाने वाले ग्रंथों में तीन लोकों के ध्यान शास्त्र, सर्वलक्षण ध्यानशास्त्र, विषय ध्यान शास्त्र, हेतुद्वारपरशास्त्र, हेत्वाभासद्वार पर शास्त्र, न्यायद्वारशास्त्र, प्रज्ञापतिहेतु संग्रहशास्त्र तथा एकीकृत अनुमानो पर शास्त्र के अध्ययन का उल्लेख किया। इनमें प्रथम, चतुर्थ, पंचम तथा अष्टम अप्राप्य हैं। इत्सिंग के अनुसार अभिधर्म का अध्ययन करते समय छः पदो का पाठ तथा आगमों के अध्ययन के समय चार निकायों के सिद्धांतों का सम्यक् रूप से अध्ययन आवश्यक था।

ब्राह्मणों के विषय में हुएनसांग ने लिखा है कि वे चारो वेदों की शिक्षा प्राप्त करते थे। इनमें प्रथम शाऊ (आयुर्वेद) था। इसमें जीवन को सुरक्षित रखने तथा प्राकृतिक स्थितियों के नियमन का वर्णन किया गया था। दूसरा वेद यज्ञों से संबंधित था। इसमें यज्ञों के नियम तथा प्रार्थनाएँ थी। तीसरा पिंग या (साम अथवा नियम) था। इसमें आचार, ज्योतिष, सैनिक गतिविधियों आदि का निरूपण किया गया था। चौथा शु (अथर्ववेद) था। इसमें विज्ञान की विविध शाखाएँ, जादू-टोने तथा औषधियो का विवेचन किया गया था। इत्सिग के अनुसार चारों वेदो में कुल मिलाकर 1, 00000 श्लोक (मंत्र) थे। उसने लिखा है कि वेद श्रुति परम्परा से एक मुख से दूसरे मुख चले आ रहे थे। वे कागज या पतों पर लिपिबद्ध नहीं किये जाते थे। इससे प्रमाणित हो जाता है कि इत्सिंग के यात्रा के समय वेदों को लिपिबद्ध नहीं किया गया था। हुएनसांग ने चारों वेदों में ऋग्वेद का उल्लेख नहीं किया। आर0 के0 मुकर्जी के अनुसार हुएनसांग ने केवल उन वैदिक ग्रंथों का उल्लेख किया है जो उस समय उत्तर भारत में प्रचलित थे।[117] हुएनसांग तथा इत्सिंग के विवरणों से ज्ञात हो जाता है कि इस युग में अध्ययन-अध्यापन पर विशेष बल दिया जाता था तथा विविध विषयों का अध्ययन किया जाता था। यद्यपि दोनों यात्री बौद्ध थे अतः उन्होंने मुख्य रूप से बौद्ध शिक्षा प्रणाली का ही उल्लेख किया है पर दोनों ने ब्राह्मणों द्वारा वेदाध्ययन की बात लिखी है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या दोनो सम्प्रदाय के अध्ययन करने वाले अलग-अलग थे या एक दूसरे से मिले हुए थे। यद्यपि इस प्रश्न का अंतिम

उत्तर दे पाना कठिन है किंतु तत्कालीन समाज में प्रचलित वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ प्रणाली के आधार पर यह सहज में अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्ध, बौद्ध ग्रथों के साथ-साथ ब्राह्मण ग्रंथों तथा ब्राह्मण, बौद्ध ग्रंथों का भी अध्ययन करते थे, भले ही उन्हें दक्षता अपने संप्रदाय के ग्रंथो में मिलती रही हो। हुएनसांग तथा इत्सिंग के विवरणो से तत्कालीन शिक्षाक्रम का जो स्वरूप ज्ञात होता है वह सामान्य विद्यार्थी के लिए नहीं बल्कि उनके लिए था जो पूर्ण पण्डित बनना चाहते थे। जन साधारण तथा राजकुमारों को इतनी अधिक शिक्षा की न तो आवश्यकता थी न उनके लिए इसे सुलभ करना संभव ही था। उन्हें कुछ व्यवहारिक तथा तकनीकी शिक्षा की ही आवश्यकता रही होगी, जैसे वैश्यों को वार्ता तथा शिल्प का ज्ञान आवश्यक था। क्षत्रिय जो विशेष रूप से प्रशासन में भाग लेते थे धनुर्विद्या तथा अर्थशास्त्र की शिक्षा ग्रहण करते थे। क्षत्रिय राजकुमारों का शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कादम्बरी[118] में विवृत है कि चन्द्रापीड़ को पद, वाक्य, प्रमाण, धर्मशास्त्र, राजनीति, व्यायाम, चाप, चक्र, चर्म-कृपाण, शक्ति, तोमर, परशु, आदि अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चलाने, हाथी-घोड़े की सवारी, वीणा, वेणु, मुरज, कांस्यताल आदि वाद्ययंत्रों, भरत आदि द्वारा विरचित नाट्यशास्त्रों, नारदादि की संगीतविद्या, गज, अश्वशिक्षा, चित्रकला, तक्षणकला, द्यूतविद्या, पक्षियो की बोली पहचानने, ज्योतिष, रत्नपरीक्षण, तक्षण, वास्तुशिल्प, वैद्यक, सुरंगभेदन, रतिशास्त्र, इन्द्रजाल, कथा, नाटक, आख्यायिका, काव्य, महाभारत, पुराण-इतिहास, रामायण, लिपि शास्त्र आदि की शिक्षा दी गयी थी। दशकुमारचरित[119] में राजवाहन की शिक्षा के प्रसंग मे दण्डी ने लिखा है कि उसने सकललिपि, निखिलदेशीय भाषा, षडंगसहित चारों वेदों, काव्य, नाटक, आख्यानक, आख्यायिका, इतिहास, चित्रकथा, पुराण, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, मीमांसा, तर्क, कौटिल्य, कमन्दकीय नीतिशास्त्र, वीणा, संगीत, साहित्य, मणि, मंत्र, औषधि, हाथी-घोड़े आदि की सवारी, अस्त्रों को चलाने का ज्ञान, चोरी, द्यूत आदि कपट कला आदि की शिक्षा प्राप्त की थी। इसमें संदेह नहीं है कि चन्द्रापीड़ के संबंध में बाण तथा राजवाहन के संबंध में दण्डी के ये विवरण अतिश्योक्तिपूर्ण हैं, तथापि इससे इतना तो सुस्पष्ट हो जाता है कि उस समय राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा पर विशेष बल दिया जाता था तथा उन्हे विविध

शास्त्रों के साथ-साथ अनेक प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। संभव है इस प्रकार की अन्य शिक्षा व्यवस्था मात्र कुलीनों तक सीमित थी। जन-साधारण इसका पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा पाता था। अभिजात तथा मध्यम श्रेणी के प्रतिष्ठित लोग ही अध्ययन एवं विद्या के क्षेत्र में आगे थे।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के इतिहास में वर्द्धन वंश का अपना विशिष्ठ महत्व है। वास्तव में गुप्तयुग में शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार से देश में जो नवीन चेतना जागृत हुई थी वद्धर्द्धन वंश युग में अपनी पराकाष्ठा पर पहुॅच गयी तथा भारत संभवतः यदि विश्व का नहीं तो एशिया का सर्वाधिक सुशिक्षित देश तथा शिक्षा का केन्द्र बन गया। चीन, जापान, तथा दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न प्रदेशों से ज्ञान-पिपासु विद्या की तलाश में यहॉ आकर अपनी ज्ञान-पिपासा शांत करते थे। इस शिक्षा की उन्नति के मूल में शिक्षण केन्द्रों की भूमिकाएँ महत्वपूर्ण थी। इस समय शिक्षा के मुख्यतः दो केन्द्र थे- आचार्यगृह, गुरूकुल तथा आश्रम एवं बौद्ध मठ तथा बिहार। आचार्य गृहों, गुरूकुलों तथा आश्रमों का उल्लेख हर्षचरित में किया गया है। हर्षचरित के अनुसार बाण की शिक्षा-दीक्षा आचार्यगृह में ही संपन्न हुयी थी जहाँ से चौदह वर्ष की अवस्था में उपनयन समावर्तन आदि संस्कारों से मुक्त होकर स्नातक होकर बाण अपने घर वापस आए थे। तदन्तर पिता की मृत्यु के बाद कुछ दिनों इधर-उधर भटकर कर अंततः गुरूकुल में विद्यार्जन किये।[120] स्थाण्वीश्वर के विषय में लिखा गयाा है कि यहॉ गुरूकुल विद्या के उच्च केन्द्रो के रूप में विख्यात थे। यह नगर नर्तकों के लिए संगीत-शाला, विद्यार्थियों के लिए गुरूकुल, गायकों के लिए गंधर्व नगर तथा वैज्ञानिकों के लिए विश्वकर्मा मन्दिर था।[121] हुएनसांग ने भी नगरों की विद्या के केन्द्र के रूप में प्रशंसा की है। कान्यकुब्ज के प्रसंग में उसने लिखा है कि नगर के निवासी विद्या तथा शिल्प के अध्ययन में सदैव दत्तचित्त थे। वाराणासी के विषय में भी चीनी यात्री लिखता है कि लोगों का आचारण कोमल तथा सौम्य था और वे विद्याभ्यास में दत्तचित रहते थे। शिक्षण केन्द्रो में आश्रमों का भी विशेष महत्व था। ये ब्राह्मणों तथा बौद्धों दोनों के थे। हर्षचरित में दिवाकरमित्र के आश्रम का उल्लेख किया गया है। यहाँ हर्ष राज्यश्री की खोज के प्रसंग में पहुँचे थे।

दिवाकरमित्र का आश्रम विन्ध्य के सघन जंगल में स्थित था। यहाँ जैन, भागवत, शैव, लोकायतिक तथा कपिल, काणाद औपनिषदिक, ऐश्वरकारणिक, कारन्धर्मा (रसमान विशेषज्ञ), धर्मशास्त्री, पौराणिक, साप्ततान्तव, शाब्दिक, पांचरात्रिक, आदि अपने-अपने आगमों का निष्ठापूर्वक श्रवण, मनन, आवृत्ति, संशय, निश्चय, व्युत्पति, विवाद तथा अभ्यास द्वारा व्याख्यान कर रहे थे।[122] यहाँ वसुबंधु के अभिधर्मकोश का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता था। त्रिशरण के अनुयायी बोधिसत्व की कहानियाँ कहते थे जिसे उलूक पक्षी सुनते थे। अग्रहार ग्राम, जो वेदज्ञ ब्राह्मणों को दान में दिए जाते थे, भी विद्याध्ययन के केन्द्र थे।

ए0 एस0 अल्टेकर[123] ने लिखा है कि शासक कभी-कभी अनेक विद्वान ब्राह्मणों को आमंत्रित कर उनकी जीविका की व्यवस्था करके उन्हें किसी नये गावं में बसा देता था। इन्हीं गांवो को अग्रहार कहा जाता था। इनमें शिक्षण केन्द्रों की स्थापना हो जाना स्वाभाविक था। अध्यापन मौखिक किया जाता था तथा अत्यंत श्रमसाध्य कार्य था। इसमें शिक्षकों को कठिन मेहनत करनी पड़ती थी। हुएनसांग ने लिखा है कि पहले गुरू लोग शास्त्रो के गूढ तत्वो को समझते थे और कठिन-कठिन अर्थों को भली-भांति जान लेते थे। इसके बाद वे उनका तात्पर्य प्रकट करते थे तथा विद्यार्थियों को कठिन अर्थों को समझाने में मदद करते थे। शास्त्रार्थ के नियम के प्रचलित होने के कारण विद्यार्थियों को कठिन से कठिन विषय भी शीघ्र ही हृदयंगम हो जाता था। इससे उनकी योग्यता बढ़ती थी तथा निराश जनों को प्रेरणा मिलती थी। शिक्षा अवधि तीस वर्ष थी। इस अवधि में विद्यार्थी पूर्ण चरित्रवान तथा विद्वान बन जाता था। विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद जब विद्यार्थी किसी काम में लगता था तो सबसे पहले अपने गुरू को धन्यवाद देने के लिए जाता था। हुएनसाग के समय नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की भी कमी नहीं थी, जो जीवन पर्यन्त विद्याध्ययन में अपना समय व्यतीत करते थे। कुछ मध्यकालीन लेखकों के मत में पंगु, लंगड़े, गूँगे, बहरे आदि को नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाना चाहिए। लेकिन जैसा कि ए0 एस0 अल्टेकर[124] ने सुझाया है, नैष्ठिक ब्रह्मचारी इससे भिन्न थे तथा इनका उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना था और इसे ये तप और ध्यान से नहीं, प्रत्युत धार्मिक साहित्य की सेवा से प्राप्त करते थे। चीनी यात्री ने लिखा है

कि ये लोग समस्त कष्टों को भूलकर साहित्य तथा विज्ञान में अपनी कुशलता सदा बढ़ाते रहते थे। धनाढ़्य कुल में जन्म लेकर भी ये परिव्राजक हो जाते थे तथा भिक्षावृत्ति द्वारा अपना उदरपोषण करते थे। ये सत्य ज्ञान में ही अपनी प्रतिष्ठा समझते थे। अपनी दरिद्रता पर इन्हें तनिक भी खेद नहीं होता था। हुएनसांग के अनुसार जिस प्रकार सांसारिक सुख इन्हें तुच्छ मालूम पडते हैं वैसे ही इन्हें अपने नाम की भी चिंता नहीं रहती। फिर भी इनका नाम दूर-दूर तक फैल जाता है तथा शासक इनका अतिशय सम्मान करते हैं पर कोई भी अपने दरबार में इन्हें बुलाने की हिम्मत नहीं करता। बडे आदमी इनके ज्ञान के कारण इनका सत्कार करते हैं ओर सर्वसाधारण इनकी प्रसिद्धि को बढ़ाते हुए सब प्रकार की सेवा करके इनको सम्मानित करते हैं।[125] कण्व, दिवाकरमित्र आदि इसी प्रकार के नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। लाइफ में उल्लिखित जयसेन भी एक ऐसा ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी था जिसने मगध के शासक पूर्णवर्मा तथा बाद में हर्ष की ओर से प्रस्तावित अनेक नगरों के उपहार को भी अस्वीकार कर दिया था। इनके आश्रमों में दूर-दूर से शिक्षार्थी आकर विविध विषयों का अध्ययन करते थे।

बौद्ध शिक्षण केन्द्र मुख्य रूप से बौद्ध मठ तथा विहार थे। चीनी यात्री अपनी भारत यात्रा के दरम्यान इनमें से बहुतों के संपर्क में आया था तथा उसने उसका उल्लेख किया है। उसने स्वयं कई विहारों मे रूक कर सुविख्यात आचार्यों से शिक्षा प्राप्त की थी। हुएनसाग के अनुसार इस समय गोविज्ञान, विलशन व प्रयाग में दो-दो, स्थाण्वीश्वर तथा नवदेवकुल में तीन-तीन, श्रुघ्न, ब्रह्मपुर तथा हयमुख में पॉच-पॉच, गजदेश, बमिन, लघमान, चेनका, चिनभुक्ति, अहिच्छत्र, गाजीपुर, वृज्जि, मुंगेर, चम्पा, ताम्रलिप्ति, कर्ण-सुवर्ण, कलिंग, भड़ौच, किट, आनंदपुर, उज्जैनी, चितौर, पर्वत, हिरण्य पर्वत, कौशाम्बी आदि में लगभग दस-दस, कूलर मथुरा, विशोक मतिपुर पुण्यवर्द्धन, आंध्र देश तथा धानकटक में लगभग बीस[126] वाराणासी तथा समतट में लगभग तीस, जालंधर, सूरत, मगध तथा उज्जैनी में लगभग पचास, काजंगल तथा कच्छेश्वर में क्रमशः सड़सठ एवं अस्सी, वेलोर, कश्मीर, कान्यकुब्ज, अयोध्या, श्रावस्ती, वैशाली, उद्र, विदर्भ, चोल, कोंकण, महाराष्ट्र, मालवा तथा बलभी में

लगभग सौ-सौ या इससे भी ज्यादा, कपिश, गन्धार तथा कपिलवस्तु में लगभग एक हजार, उद्यान में चौदह सौ तथा नेपाल में लगभग 2000 बौद्ध मठ एवं विहार विद्यमान थे। इनमें कश्मीर की राजधानी में स्थित जयेन्द्र विहार में चीनी यात्री हुएनसांग ने दो वर्ष तक यहाँ के वृद्ध आचार्य से कोकशास्त्र, न्यायशास्त्र तथा हेतुविद्या शास्त्र का अध्ययन किया था। यहाँ उसने कई बौद्ध तीर्थों की यात्रा की थी तथा अनेक बौद्धाचार्यों से भेंट की थी। हुएनसांग ने लिखा है कि इस देश में आनंद के शिष्य अर्हत मध्ययान्तिक ने बौद्ध धर्म का प्रवेश किया। पंजाब तथा जालंधर के विहारों में उसने विविध शास्त्रों का अध्ययन किया था। जालंधर के नगरधन मठ में आचार्य चन्द्रवर्मा से हुएनसांग ने त्रिपिटक का अध्ययन किया था। इसी प्रकार मतिपुर के बौध मठों जिनकी संख्या 20 (लाइफ के अनुसार 10) थी लगभग 800 बौद्ध विद्वान थे। ये सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के हीनयान के विद्वान थे। इन विद्वानों में गुणप्रभ, संघभद्र, वसुबन्धु, बोधिसत्व आदि ख्यातिप्राप्त विद्वान थे। मतिपुर का अत्यंत प्रसिद्ध विद्वान गुणक्रम का शिष्य मित्रसेन था हुएनसांग के समय इसकी अवस्था 90 वर्ष की थी। यह त्रिपिटकों का निश्णात पंडित था। चीनी यात्री ने इस बौद्ध विद्वान से तत्वसत्य शास्त्र, अभिधर्मज्ञानप्रस्थान शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया था।[127] इसी प्रकार कान्यकुब्ज, जहाँ चीनी यात्री के अनुसार कई सौ विहार संघाराम थे, जिनमें लगभग 10, 000 साधु रहते थे, के भद्रविहार में तीन महीने विश्राम कर त्रिपिटकों के आचार्य वीर्यसेन से बुद्धदास के विभाषा, जिसे वमर्विभाषा व्याकरण भी कहा जाता है, का अध्ययन किया था।[128] इनके साथ वैशाली के श्वेतपुरमठ, गया के महाबोधिमठ, कर्ण-सुवर्ण के रक्तावित मठ, मुंगेर के बौद्ध विहार तथा नालंदा विहार भी अत्यंत प्रसिद्ध विहारों में थे। श्वेतपुर नगर में चीनी यात्री ने बोधिसत्व पिटक सूत्र का अध्ययन किया था। हुएनसांग मुंगेर के बौद्ध विहार में भी रूका था। उसके अनुसार यहाँ दस से अधिक संघाराम थे, जिसमें 4000 से भी अधिक लोग रहते थे। इनके अतिरिक्त हाल में एक पड़ोसी शासक ने इस पर अधिकार कर इसमें दो अन्य संघाराम बनवाया था, जिनमें प्रत्येक में सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के एक हजार भिक्षु थे। लाइफ से पता चलता है कि यहाँ तथागत गुप्त क्षन्तिसिंह नामक दो विद्वान सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के थे। हुएनसांग यहाँ एक

वर्ष रूक कर विभाषा, न्यायानुसार शास्त्रों तथा अन्य ग्रन्थो का अध्ययन किया था।[129] काठियावाड़ में स्थित बलमी भी सातवीं शती के विद्याकेन्द्रों में प्रमुख स्थान रखता था। हुएनसांग के अनुसार इस देश (वलभी) मे कोई सौ सघाराम थे, जिसमें लगभग 6000 हीनयानी भिक्षु रहते थे, तथा शिक्षा प्राप्त करते थे। इनमें एक संघाराम जो नगर से थोड़ी ही दूर पर था, का निर्माण एक अर्हत ने करवाया था, जिसका नाम आचार था। इसी संघाराम में गुणमति तथा स्थिरमति ने यात्रा के दरम्यान कुछ दिन विश्राम किया था तथा ऐसे ग्रंथों की रचना की थी जो सदा के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। इत्सिंग ने भी वलभी की प्रशंसा की है। उसने लिखाा है कि सभी के देशों विद्वान यहाँ आकर शिक्षा प्राप्त करते थे और सभी सिद्धांतों पर शास्त्रार्थ करके उनकी सत्यता निर्धारित करने का प्रयत्न करते थे। अध्यापक दो या तीन वर्ष तक विद्यार्थियों को पढाते थे। यहाँ ऊँचे कक्षाओं के विद्यार्थी नीची कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। इस विद्यापीठ में लौकिक विषयों यथा राजनीति, वृत्त (छन्दशास्त्र) तथा चिकित्साशास्त्र के अध्ययन की व्यवस्था भी थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर में कश्मीर से लेकर पूर्व मे बिहार तथा बंगाल में तथा पश्चिम में वलभी राज्य से लेकर दक्षिण में कांची तक अनेक बौद्ध मठ तथा संघाराम विद्यमान थे, जो शिक्षा के आदर्श केन्द्र थे तथा यहाँ दूर-दूर से शिक्षार्थी अध्ययनार्थ आते थे। इनमें नालंदा, बिहार सर्वाधिक प्रतिष्ठित था। चीनी यात्री हुएनसांग तथा इत्सिंग ने इस विहार का अपेक्षाकृत अधिक विशद वर्णन प्रस्तुत किया है।

वर्द्धनवंश कालीन शिक्षण केन्द्रों तथा बौद्ध मठों एवं बिहारों में हर्षयुगीन नालंदा विहार अपने ढंग का अद्वितीय था। चीनी यात्री ने स्वयं लिखा है कि भारत में यद्यपि संघारामों की संख्या सैकडो थी पर नालंदा का विहार सर्वाधिक भव्य एवं विशाल था। नांलदा बिहार में पटना से लगभग 80 कि0 मी0 दक्षिण स्थित है। कर्निघम इसकी पहचान राजगिरि से लगभग 11 कि0 मी0 उत्तर स्थिति आधुनिक बरगांव से करते है।[130] एक परवर्ती जैन ग्रंथ समेतशिखरतीर्थमाला में नालंदा को बरगांव का प्राचीन नाम माना गया है। सुमंगलविलासिनी[131] के अनुसार नालंदा राजगृह से एक योजन तथा महावस्तु[132] के अनुसार मात्र आधा योजन दूर स्थित था। राजगृह से नालंदा तक एक मार्ग जाता था। संयुक्तनिकाय के अनुसार गौतमबुद्ध को इस सड़क

पर बैठे देखा गया था। नालंदा के नामकरण के संबध मे चीनी यात्री हुएनसांग ने दो अनुश्रुतियों का उल्लेख किया है। एक अनुश्रुति के अनुसार नालंदा विहार के दक्षिण स्थित आम्रकुंज में एक सरोवर में एक नाग रहता था। इसी नाग के आधार पर इस विहार का नाम नालंदा पड़ा था। दूसरी अनुश्रुति के अनुसार बुद्ध अपने पूर्वजन्म मे इस देश के राजा थे तथा इसमें अपनी राजधानी स्थापित की थी। वे दान देने में कभी थकते नहीं थे, अर्थात कभी तृप्त नहीं होते थे (न अलं दा)। इसीलिए उनको नालंदा उपाधि दी गयी थी। इस अधिष्ठान की भूमि मूलतः एक आम्रकुंज थी, जिसे 500 व्यापारियों ने 10 लाख सुवर्ण मुद्रा देकर खरीदा था तथा बुद्ध को समर्पित किया था। बुद्ध के निर्वाण के बाद इस देश के शक्रादित्य नामक शासक ने इस विहार का निर्माण करवाया था।[133] चीनी यात्री नालंदा के नामकरण के संबंध में पहली अनुश्रुति नहीं मानता। वह जातक की कहानी को अधिक वरीयता प्रदान करता है।[134]

नालंदा विहार के निर्माण के इतिहास की समस्या काफी उलझी हुयी है। चीनी यात्री के अनुसार शक्रादित्य बड़े प्रेम से एकयान की भक्ति तथा रत्नत्रयी (त्रिरत्नों) का अतिशय सम्मान करता था। भविष्यवाणी द्वारा उत्तम स्थान प्राप्त कर उसी ने संघाराम का निर्माण करवाया था। इसके अनुसार शासक के मन में संघाराम बनवाने की इच्छा हुई तथा उसने इस स्थान की खुदाई प्रारंभ की। भूमि खोदते समय एक नाग जख्मी हो गया। संयोग से वहाँ निग्रंथ सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध ज्योतिषी उपस्थित था। उसने इस घटना के आधार पर यह भविष्णवाणी की कि यह सर्वोत्तम स्थान है और यदि यहॉ विहार बनाया गया तो वह अत्यंत प्रसिद्धि प्राप्त करेगा। संपूर्ण भारतवर्ष के लिए पथ-प्रदर्शक होकर हजार वर्ष तक अमर रहेगा और अपने अध्ययन की परिणति के लिए सभी प्रकार के विद्यार्थी यहाँ आयेंगे। पर चूकि नाग घायल हो गया है इसलिए उसमें से कुछ रूधिर का वमन करेंगे। शक्रादित्य के उत्तराधिकारी बुद्धगुप्त ने अपने पिता के कार्य को जारी रखा तथा इसके दक्षिण दूसरा संघाराम बनवाया। राजा तथागतगुप्त भी अपने पूर्वजों के प्राचीन नियमों के पालन में तत्पर सदा परिश्रम करता रहा तथा इसके पूरब एक संघाराम बनवाया। उसके बाद बालादित्य ने पूवोत्तर दिशा में एक दूसरा

संघाराम बनवाया। इसके बाद उसके पुत्र वज्र ने इस संघाराम के पश्चिम एक संघाराम बनवाया इसके बाद मध्यभारत के एक शासक ने इसके उत्तर में एक संघाराम बनवाया। उसने सभी संघारामों को चारों ओर से एक चहरदीवारी से घेर दिया और इसमें एक द्वार बनवाया।[135] शक्रादित्य सहित इन छः राजाओं की ऐतिहासिकताा अथवा तिथिक्रम के विषय मे कुछ स्पष्टतः ज्ञात नहीं है। शक्रादित्य की पहचान आए0 के0 मुकर्जी कुमारगुप्त प्रथम से इस आधार पर करते हैं कि कुमारगुप्त ने महेन्द्रादित्य उपाधि धारण की थी और महेन्द्र शक्र (इन्द्र) का पर्याय है। फादर हेरास ने भी यही सिद्ध करने की चेष्टा की है।[136] बुद्धगुप्त गुप्तवंशीय बुद्धगुप्त प्रतीत होता है। बालादित्य की समानता नरसिंहगुप्त बालादित्य से की गई है, जिसने हूणों के विरूद्ध संघर्ष किया था। तथागतगुप्त तथा वज्र की पहचान ठीक-ठीक नहीं हो पायी है। कुछ लोगों की मान्यता है कि ये क्रमशः पुरूगुप्त तथा कुमारगुप्त द्वितीय है। मध्य भारत के शासक की पहचान स्वयं सम्राट् हर्ष से की गयी है, जिसने लाइफ के अनुसार नालंदा में एक ताम्रविहार का निर्माण करवाया था। चीनी यात्री इत्सिंग ने भी लिखा है कि नालंदा में राजा शक्रादित्य ने भिक्षु राजवंश के लिए एक चैत्य का निर्माण करवाया था। इत्सिंग के कथन से भी शक्रादित्य के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती लेकिन इससे इतना लगभग निश्चित हो जाता है कि शक्रादित्य ने ही नालंदा विहार की स्थापना की थी। तारानाथ ने लिखा है कि नालंदा सारिपुत्र का जन्म स्थान था तथा अशोक ने यहाँ एक मंदिर की स्थापना की थी।[137] लेकिन तारानाथ के इस वक्तव्य में विश्वास नहीं किया जा सकता। ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के पूर्व नालंदा की प्रसिद्धि अधिक नहीं थी। शिक्षा के केन्द्र के रूप में इसकी ख्याति ईस्वी सन् के बाद महायान बौध धर्म के विकास के बाद ही हो पायी। तारानाथ ने लिखा है कि नागार्जुन ने अपना अधिकांश समय नालंदा में व्यतीत किया था। नागार्जुन के चौथी शताब्दी में हुए थे। तारानाथ के अनुसार नागार्जुन के समयकालीन सुविष्णु ने यहाँ 108 मंदिरों को निर्माण करवाया था। यह भी कहा गया है कि बौद्धाचार्य दिंगनाग निमंत्रण पर नालंदा आये थे तथा यहाँ के ब्राह्मण सुदुर्जय तथा अन्य तीर्थ पुरोहितों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। दिगनाथ 400 ई0 के आस-पास हुए थे। इससे भी पांचवी शताब्दी में नालंदा की विद्या केन्द्र के रूप में

प्रसिद्धि प्रमाणित हो जाती है। पर फाहियान ने नालंदा का केवल सामान्य उल्लेख किया है। उसने केवल इतना लिखा है कि यह नालों[138] के नाम से जाना जाता था तथा ऐसी मान्यता थी कि यहाँ सारीपुत्र का आविर्भाव हुआ था। इससे यही ज्ञात होता है कि फाहियान के समय नालंदा अपने विकास की ओर अग्रसर था। पांचवीं शती तक इसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी।[139] जो आगे आने वाली दो शतियों में अपने चरम पर पहुँच गयी।

संपूर्ण नालंदा विहार में कई मठ थे। इनमें छः मठों का निर्माण शक्रादित्य, बुद्धगुप्त, तथागतगुप्त, बालादित्य, वज्र तथा मध्यभारत के राजा (हर्ष) ने करवाया था। इन्हें ईट की एक दीवार से घेर दिया गया है। जिसमें एक फाटक विद्यापीठ की ओर है। इससे आठ कमरे जो संघाराम के मध्य स्थित हैं अलग किये गए है। सुअलंकृत मीनारों तथा परी के समान लगने वाले गुम्बज पर्वत की नोकदार चोटियों की भांति एक साथ हिले-मिले से खड़े हैं। मंदिर प्रातः कालीन धूम्र में विलीन हुए से दिखते हैं। खिड़कियों से कोई भी यह स्पष्टतः देख सकता है कि किस प्रकार हवा तथा बादल नये रूप में दिखायी पड़ते हैं और उत्तुंग ओलतियों पर शशि एवं भाष्कर की कांति दिखायी पड़ती है। बाहर के सभी हाल जिसमें पुरोहितों के सभी कमरे थे चार-चार मंजिलों के थे। मंजिलों में मकराकृति की प्रक्षेपें, रंगीन ओलतियॉ, मोती के समान स्तंभ, जो पूर्णतया अलंकृत तथा तक्षित हैं, अत्यंत सुअलंकृत बालूस्ट्रेड तथा खपड़ो से युक्त छतें, जो सूर्य के प्रकाश को हजारों रूपों में प्रतिबिम्बित करती हैं, विहार की शोभा बढा रही है। नालंदा विहार के संबंध में हुएनसांग का यह विवरण काल्पनिक एवं अतिरंजित नहीं है। आठवीं शताब्दी ई0 के यशोवर्मा के प्रस्तर लेख से इसका समर्थन मिल जाता है। प्रसंगत. इस बात का उल्लेख भी किया जा सकता है कि हूणों तथा तेरहवीं शताब्दी ई0 मे तुर्कों ने इस विश्वविद्यालय एवं शिक्षाकेन्द्र को पूरी तरह से नष्ट भ्रष्ट कर दिया और इसका गौरव अतीत के गर्त में समा गया। पर पुरातत्ववेत्ताओं ने अथक प्रयास करके इसके अवशेषों का पता लगाया। यहाँ से अनेक मंदिरों, भवनों एवं मूर्तियों के अवशेष मिले हैं।

नालंदा विहार को सम्राट् हर्ष का पूर्ण संरक्षण मिला था। लाइफ के

अनुसार हर्ष ने इसमें एक विहार स्वय निर्मित करवाया था। वह पंडितों, आचार्यों का सम्मान करता था तथा विहार के खर्च के लिए उसने एक सौ गांव की आमदनी दान की थी। इन गावों से दो सौ गृहस्थ प्रतिदिन कई सौ पिकुल (पिकुल.-133-1/8 पौण्ड) चावल तथा कई सौ कैटीज (1 कैटी-160 पौण्ड) मक्खन इस विहार को देते थे। यह सामग्री इतनी अधिक होती थी कि यहाँ रहने वाले विद्यार्थियों को किसी से कुछ मांगने की आवश्यकता नहीं रह जाती थी। इसीलिए यहाँ आने वाले विद्या एवं शिक्षा में पूर्णता प्राप्त कर लेते थे।[140] चीनी यात्री के अनुसार शिक्षार्थी तथा भिक्षुओं की, जो यहाँ रह रहे थे, सम्मिलित संख्या 10, 000 थी। इसमें वे लोग भी सम्मिलित थे जो दूर देशों से धर्म एवं दर्शन के संबंध मे अपनी शंका दूर करने आये थे। आचार्यों की कुल संख्या 1510 थी। इसमें 1000 सूत्रो एवं शास्त्रों के संग्रहों के पंडित थे। पांच सौ तीस संग्रहों को पढ़ा सकते थे। दस ऐसे थे जो पचास संग्रहों को पढ़ा सकते थे (अंतिम दस में चीनी यात्री स्वयं भी था)। शीलभद्र इनमें सर्वाधिक निष्णात तथा कुलपति था। उसे इन सभी संग्रहों की जानकारी थी। अपने वैदुष्य एवं वय के कारण उसे सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली थी। विहार में प्रतिदिन सौ व्याख्यान दिये जाने की व्यवस्था थी और प्रत्येक विद्यार्थी को (चाहे थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो) आवश्यक रूप से इसमें सम्मिलित होना पड़ता था। इस विहार में महायान बौध धर्म के साथ-साथ अठारह अन्य सम्प्रदायों के दर्शनों, ब्रह्मण धर्म के प्रमुख ग्रंथों, वेदो तथा अन्य ग्रंथों, हेतुविद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, अर्थवेद, सांख्य आदि का अध्ययन अध्यापन किया जाता था। यहाँ के रहने वाले जिज्ञासुओं तथा भिक्षुओं को नियम का पूर्णतया पालन करना पडता था। विहार में आचार्यों का इतना अधिक प्रभाव था कि उसकी स्थापना के सात सौ वर्ष के भीतर किसी ने भी विहार के नियम का उल्लंघन का साहस नहीं किया। यहाँ के प्रसिद्ध आचार्यों में शीलभद्र, धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, जिनमित्र, जिनचन्द्र आदि थे, जिनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली थी। इनमें शीलभद्र, सर्वाधिक योग्य तथा विश्रुत विद्वान थे। वे नालंदा के कुलपति भी थे। चीनी यात्रियों के अनुसार शीलभद्र ब्राह्मण थे तथा भिक्षु बनने के पूर्व समतट के राजकुमार थे। हुएनसांग ने स्वतः भी शीलभद्र से अध्ययन किया था। कांची के धर्मपाल, जो

शीलभद्र के गुरू थे, भी अत्यंत निष्णात विद्वान थे। उन्होने सात वर्ष तक नालंदा में अध्यापन तथा अध्यक्षता की थी। हुएनसांग के पूर्व नागार्जुन, सुविष्णु, आर्यदेव, असंग वसुबन्धु, दिंगनाथ, जिन्हें अपने समय में अत्यधिक ख्याति मिली थी, भी नालंदा में अध्यापन कार्य कर चुके थे।[141]

नालंदा कोई सामान्य श्रेणी की सस्था नहीं, प्रत्युत्त ऐसी संस्था थी जहाँ विद्यार्थी प्रारंभिक शिक्षा समाप्त कर उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त करते थे। इस शिक्षण संस्था में प्रवेश पाना सरल कार्य नहीं था। इसके लिए विद्यार्थी को कठिन परीक्षा से होकर गुजरना पड़ता था। चीनी यात्री ने लिखा है कि जो नालंदा विहार में विचार गोष्ठियों में भाग लेने की इच्छा करता था उसकी प्रवेश द्वार पर ही सरंक्षको द्वारा कठिन परीक्षा ली जाती थी। इस परीक्षा में जो असफल हो जाता था उसे प्रवेश नहीं मिल पाता था। प्रवेश के लिए नवागत छात्रों की भी कठिन परीक्षा ली जाती थी। दस व्यक्तियों में से केवल दो-तीन ही प्रवेश पाते थे, शेष निराश होकर वापस लौट जाते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ उच्च शिक्षा के लिए ही विद्यार्थी प्रविष्ट हो पाते थे। नालंदा का स्नातक होना अत्यंत गौरव एवं सम्मान की बात थी तथा संपूर्ण देश में उसका सम्मान किया जाता था। संभवतः इसी कारण नालंदा के विद्यार्थी होने का जाली प्रमाणपत्र भी बनने लगा था। यहाँ भारत के बाहर से भी शिक्षार्थी आते थे। हुएनसांग की भारत यात्रा के समय कई विदेशी विद्यार्थी यहॉ विद्याध्ययन कर रहे थे। इत्सिंग ने लिखा है कि हुएनसांग से पहले तथा बाद तक के चालीस वर्षों में लगभग छप्पन विद्वान चीन, जापान, तथा कोरिया से भारत आये थे। इत्सिंग ने अपने समय के जिन विद्यार्थियों का उल्लेख किया है उनमें प्रकाशमति, श्रीदेव, चन्द्रदेव, महायान प्रदीप, शीलप्रभु, प्रज्ञादेव प्रमुख थे।

नालंदा विहार से संबंधित हुएनसांग एवं इत्सिंग के उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष के समय यह शिक्षा का एक आदर्श केन्द्र था। यहाँ कुछ सीमित विषयों में ही नहीं, प्रत्युत्त ज्ञान विज्ञान के विविध क्षेत्रों में विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं के अंधकार को दूर कर उसे प्रकाशित किया जाता था। ताकि वह अपनी ज्ञान-रश्मिओं से सर्वत्र प्रकाश फैलाएं। भारत के ही नहीं

, बल्कि भारत के बाहर चीन, जापान, कोरिया आदि से यहाँ विद्यार्थी आते थे तथा विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करते थे। इस प्रकार यह भारत का ही नहीं प्रत्युत्त एशिया का प्रमुख विश्वविद्यालय बन गया था। सम्राट् हर्ष के पूर्ण संरक्षण के कारण यह विश्वविद्यालय अपने उच्च आदर्शों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्णतया सफल रहा। इसमें दीक्षित विद्यार्थी तथा अध्यापक भारत के बाहर जाकर भारतीय ज्ञान रश्मियों को विकीर्ण करने मे समवेत सहयोग प्रदान किये। भारत से बाहर तिब्बत, चीन आदि देशों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार में इस विश्वविद्यालय की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जा सकती है। इन देशों से आने वाले विद्यार्थी नालंदा से प्रशिक्षित होकर अपने देश जाने पर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार-प्रसार किये। नालंदा में शिक्षित अनेक भारतीय विद्वानों ने भी इन देशों में जाकर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का संदेश दिया। तिब्बत सभ्यता एवं संस्कृति के सृजन में जहाँ एक ओर आर्यदेवन, शीलभद्र, धर्मपाल, चन्द्रगोमिन की कृतियों ने महत्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा की वहीं नालंदा से अनेक बौद्ध विद्वान इन देशों में जाकर स्थायी रूप से बस गये तथा इन देशों मे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया। चीन में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचारकों में नालंदा के विद्वानों में कुमाजीव, परमार्थ, शुभाकर तथा धर्मदेव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने लगभग चालीस वर्षों में 118 बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन, तिब्बत आदि में गुँजायमान 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्म शरणं गच्छामि, संघम शरणं गच्छामि' की ध्वनियाँ आज भी नालंदा की स्मृति जीवित किये है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारत का तत्कालीन सामाजिक जीवन प्रायः वैसा ही था जैसा कि आजकल है। अंतर केवल यह था कि उस पर विदेशियों के दीर्घ शासन का प्रायः कुछ भी प्रभाव नहीं पडा था। भारत के विभिन्न भागों के लोगों की विशेषताएं जो वर्तमान समय में दिखायी पड़ती हैं वे उस काल में भी थीं। विभिन्न प्रांतों के लोगों के चरित्र के विषय में हुएनसांग ने जो कुछ लिखा है वह बड़ा मनोरंजक है। कश्मीर के लोग धोखेबाज तथा कायर होते थे।[142] मथुरा के लोग विद्वता एवं नैतिक आचरण का सम्मान करते थे।[143] थानेश्वर के लोगों को अभिचार क्रिया से बहुत प्रेम

था।[144] और बाण के कथनानुसार वे बहुत सरल स्वाभाव के थे। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के निवासियों का रूप परिष्कृत होता था और वे रेशम के चमकीले कपड़े पहनते थे। वे विद्या और कला के व्यसनी थे। उनकी बात स्पष्ट तथा अर्थपूर्ण होती थी।[145] मालवा के लोग बहुत बुद्धिमान और नम्र स्वाभाव के होते थे और मगध के लोगों की भांति विद्वता का आदर करते थे।[146] बाण भी 'कादम्बरी' में इस बात का समर्थन करता है।[147] पुंण्ड्रवर्द्धन के निवासी विद्वानों का सम्मान करते थे।[148] कामरूप में लोग यद्यपि ईमानदार थे, किंतु उनका स्वाभाव उग्र था। वे बड़े अध्यवसायी और विद्याप्रेमी थे।[149] उड़ीसा[150] आंध्रप्रदेश[151] तथा धनकटक[152] के लोग भी उग्र स्वाभव के होते थे। चोलदेश[153] के लोग भयंकर और लुच्चे थे। द्रविड़[154] के लोग साहसी-पूर्णरूप से विश्वसवनीय सार्वजनिक हित के भाव से प्रेरित तथा विद्या के प्रेमी थे। महाराष्ट्र[155] के लोग अभिमानी, युद्ध प्रेमी, कृतज्ञ, बदला लेने वाले तथा कष्टपीड़ितों के लिए आत्मत्याग करने वाले थे। जो कोई उनका अपमान करता था, उसके खून के प्यासे हो जाते थे और उसके लिए अपनी मौत से भी नहीं डरते थे।

सम्राट् हर्षवर्द्धन के शासन काल में ब्राह्मण धर्म और संस्कृत भाषा का अत्यधिक प्रचलन था। साहित्यिक रचनाओं का सृजन संस्कृत भाषा में ही हो रहा था। गुप्त साम्राज्य में तत्कालीन समाज की बहुमुखी उन्नति हो चुकी थी। लेखकों को राज्य की ओर से पुरस्कार और प्रोत्साहन दिया जाता था। वस्तुतः सच्चा विद्वान धन की अपेक्षा सम्मान को अधिक महत्व देता है। गुप्त साम्राज्य का प्रभाव हर्षवर्द्धन के शासन काल पर भी पड़ा एवं इसमें भी संस्कृत साहित्य का अत्यधिक विकास हुआ।

प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि संस्कृत वांङमय की अभिवृद्धि और उन्नति के लिए अनेक शासकों ने योगदान दिया किंतु उनका यह योगदान आर्थिक सहायता या राजाश्रय का ही था किंतु सम्राट् हर्षवर्द्धन अन्य सम्राटों या आश्रयदाताओं की अपेक्षा संस्कृत साहित्य की समुन्नति में अपना एक विशेष स्थान रखता है। उसने कवि, लेखकों एवं विद्वानों को अपने शासन में आश्रय तो दिया ही है किंतु इसके साथ ही साथ

उसने एक कवि ह्रदय भी पाया था और विद्वानों के सत्संग से लेखनी द्वारा भी अनेक नाटकों का सृजन किया था। हर्षवर्द्धन इस मर्म को भी बहुत अच्छी तरह से जानता था कि "काव्यों में नाटक ही सुरम्य होते हैं।"[156]

सम्राट् हर्षवर्द्धन के शासनकाल में नाटकों का अधिक प्रचलन था। समाज में दृश्य काव्यों (नाटकों) के प्रति अधिक रूचि थी। यद्यपि बाणभट्ट ने गद्य काव्य में अधिक ख्याति प्राप्त की थी। सम्राट हर्षवर्द्धन का काल शासन प्रबंध की दृष्टि से प्राचीन राजवंशों में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान था ही किंतु इसके साथ ही साथ विद्या के प्रसार और प्रचार के क्षेत्र मे उसकी उदारता का एवं दान शीलता का परिचय नालंदा और विश्वविख्यात विश्वविद्यालय की आर्थिक सहायता करने से उसके विद्यानुरागी होने का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है सम्राट् हर्षवर्द्धन ने एक कुशल शासक होने के साथ ही साथ एक सफल नाटककार के रूप में ख्याति प्राप्त की है। विद्या के प्रति जिस व्यक्ति का अनुराग होगा वही व्यक्ति विद्या का महत्व और साहित्य का रहस्य जानता है, विद्वानों का सम्मान करना समझता है और विद्याव्यसनियों के संपर्क मे रहकर स्वयं भी लेखक बन जाता है। हर्षवर्द्धन में ये सभी गुण पाये जाते थे। प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृत साहित्य में सम्राट् हर्षवर्द्धन का महत्व इसीलिए विशेष रूप से है कि वह सम्राट् होते हुए भी विद्वानों का समादर करने वाला, साहित्य सृष्टा और एक अच्छा नाटककार भी था। उसने जहाँ एक ओर युद्धक्षेत्र में तलवार से चमत्कार दिखाया है वहीं दूसरी ओर अपनी लेखनी का गौरव दिखाकर विद्वतमंडली को भी अपनी रचनाओं द्वारा मुग्ध किया है।[157]

भारतीय समाज में अति प्राचीन काल से नाटको का दृश्य काव्य होने के कारण अधिक महत्व रहा है। क्योंकि नाटकों में पात्र अपने कथनोपकथन, अभिनय और विभिन्न प्रकार के वेशभूषा से आकर्षित कर लेते है। दर्शकों का पूरा ध्यान नाटककारों की ओर ही रहता है। अतः सम्राट् हर्षवर्द्धन के कवि ह्रदय ने तीन नाटकों का सृजन किया है:-रत्नावली, प्रियदर्शिका, नागानन्द। उसने बौध धर्म के प्रभाव के कारण दो छोटी रचनाएँ -अष्टमहाचैतय और सुप्रभा स्तोत्र भी लिखे हैं। प्रथम स्तोत्र में बौद्ध धर्म के चैत्यों की अराधना का पाँच श्लोकों में वर्णन किया गया है। द्वितीय स्तोत्र में चौबीस श्लोंको द्वारा

माता-पिता की सेवा में अपना जीवन तक बलिदान करना दिखाया गया है। यह महान् सम्राट् न केवल विद्या का संरक्षक था अपितु, स्वयं भी एक विख्यात लेखक था।[158]

संस्कृत साहित्य में सम्राट् हर्षवर्द्धन का नाम एक नाटककार के रूप में बड़े ही सम्मान के साथ लिया जाता है क्योकि संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि के लिए उनका बहुत बड़ा योगदान है। उसने अपने युग के अनुरूप संस्कृत भाषा के माध्यम से तीन नाटकों की रचना की है। इन तीनों नाटकों की कथावस्तु को यहाँ संक्षिप्त रूप में कवि हर्ष के नाट्य सौष्ठव मे प्रस्तुत किया जा रहा है। एक ही व्यक्ति कैसे कुशल नाटककार और योग्य प्रशासक बन सकता है यह सब यहाँ एक साथ देखा जा सकता है।

प्रियदर्शिका नाटिका कवि हृदय रखने वाले सम्राट् हर्षवर्द्धन की प्रथम रचना है। इसमें चार अंक मात्र है, कौशाम्बी नगर के राजा वत्सराज उदयन की प्रेमकथा का इसमें वर्णन है। प्रथम नाटककार भास ने उदयन की रानी वासवदत्ता के नाम पर 'स्वप्नवासवदत्ता' नामक नाटक की रचना की है। वहीं वासवदत्ता महासेन प्रद्योत की कन्या थी। एक दिन उदयन के पास एक कंचुकी आया और कहने लगा-"महाराज मै दृढ़वर्मा का कंचुकी हूँ। इस समय हमारे राजा के बुरे दिन हैं क्योंकि कंलिग के राजा ने उन्हें कारागार में बंद कर दिया है। उनकी प्रियदर्शिका नाम की एक कन्या है जिसे वे आपको देना चाहते हैं। इसी विचार से उस कन्या को लेकर मैं मार्ग में आ रहा था और अगस्त्यतीर्थ में स्नान करने की इच्छा से दृढ़वर्मा के मित्र विन्ध्यकेतु के यहॉ उसे छोड़ गया। जब तक मैं स्नान कर लौटा तब तक किसी ने विन्ध्यकेतु का वध कर दिया और उस प्रियदर्शिका का भी कहीं पता नहीं चल सका।

कुछ समय के पश्चात् सेनापति विजयसेन उदयन के पास आया और कहने लगा-महाराज विन्ध्यकेतु युद्ध में मारा गया है और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके यहाँ एक कन्या मिली है जिसे मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। उदयन ने उस कन्या का नाम आरण्यका रखकर महारानी वासवदत्ता

के पास यह आदेश देकर भेज दिया कि इसे सगीतादि अनेक कलाओं की शिक्षा दी जाय और जब यह विवाह के योग्य हो तो उसकी सूचना मुझे दे दी जाये।

राजा उदयन और उसका विदूषक नियम और उपवास से कृष महारानी को देखने के लिए जाना चाहते हैं। वहा जाने पर उन्हें महारानी की चोरी के साथ आरण्यका को फूल चुनते देखा।विदूषक ने उदयन राजा से पूछा यह वन देवी के समान कौन है? तब दोनों की बाते सुनने के लिए विदुषक और राजा झाड़ी में छिप जाते हैं। उनकी बातों को सुनकर उदयन को मालूम हो जाता है कि यह आरण्यका किसी संभ्रांत परिवार की है। फूल तोड़ने में भ्रमरों से दुखी वह रक्षा के लिए पुकारती है। विदुषक उदयन का परिचय देता है और प्रियदर्शिका मन में सोचती है कि मेरे पिता ने मुझे इन्हीं महाराज को समर्पित किया था।

इस पर आरण्यका की राजा के प्रति आशक्ति बढ़ने लगती है। उस पर उसकी सहेली मनोरमा उसे समझाती है कि यदि तुम राजा की दृष्टि मे रम गई हो तो अब तुम्हें चिंता नहीं करनी चाहिए। उदयन वासवदत्ता और प्रियदर्शिका सब मिल गये। उससे बढकर क्या प्रिय हो सकता है।

रत्नावली कुशल शासक और नाटक लेखक हर्षवर्द्धन की द्वितीय नाटिका है। इसमें भी चार ही अंक हैं इसमे कौशाम्बी के राजा उदयन को धीर नायक के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। राजा उदयन बहुत बडा प्रतापी शासक था और अवन्ति राज्य के प्रद्योत की कन्या उसकी रानी थी। वासवदत्ता के मामा विक्रमबाहु सिंहल द्वीप के राजा की भी एक कन्या थी जो रत्नावली नाम से प्रसिद्ध थी। उसके विषय में बाल्यकाल में ही किसी सिद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि जिसके साथ इसका विवाह संस्कार होगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। इस बात को उदयन के स्वामीभक्त मंत्री योगन्धरायण ने जब सुना तब वह सिंहल के राजा विक्रमबाहु के पास गया और उदयन के लिए रत्नावली की मांग की किंतु वह शंका में पड़ गया क्योंकि वासवदत्ता भी उसकी भानजी थी जो उदयन की ही रानी थी। अतः इस संबंध के लिए सिंहल द्वीप के राजा विक्रमबाहु ने निषेध कर दिया। किंतु कुछ दिन के

पश्चात् उदयन के मंत्री यौगन्धरायण ने वासवदत्ता को आग में जलने का समाचार सर्वत्र प्रचारित कर दिया और कंचुकी वाभ्रव्य को रत्नावली को लाने के लिए सिंहल भेज दिया। इस बार सिंहलेश्वर ने रत्नावली को कौशाम्बी भेज दिया किंतु मार्ग में नौका डूब गई और रत्नावली काष्ठफलक को पकड कर बच गई। सिंहलद्वीप के कुछ व्यापारियों ने रत्नावली को देखकर क्योंकि उसके गले मे रत्नमाला पड़ी थी, उसे पहचानने पर यौगन्धरायण के सुपुर्द कर दिया।

सागरिका (रत्नावली) राजा उदयन के रूप को देखकर तन्मय हो गई और कदली गृह में चित्र बनाने लगी। वासवदत्ता कदलीगृह में रत्नावली द्वारा राजा का बना चित्र देखकर बहुत दुखी हुयी।

राजा सागरिका से मिलने की चिंता में रहता है, वासवदत्ता को राजा और रत्नावली के प्रेम का समाचार सुनने पर दुख होता है। वह आत्महत्या करना चाहती है तभी राजा और विदुषक उसकी रक्षा के लिए पहुँच जाते हैं। वासवदत्ता को अपनी रत्नावली को न पहचानने के कारण कष्ट और दुख होता है। परिचय मिलने पर वासवदत्ता ने अपनी ममेरी बहिन रत्नावली को गले लगा लिया और राजा उदयन ने उसे स्वीकार कर लिया।

नागानंद नाटक में पाँच अंक हैं। यह नाटक दयावीर रस प्रधान नाटक है। जन-कल्याण, परोपकार और हिंसावृत्ति को दूर करने के लिए ही सम्राट् हर्षवर्द्धन ने इस नागानंद नाटक की रचना की है। हर्षवर्द्धन के सुकोमल हृदय पर संसार के संकटों को देखकर मानवता के प्रति अधिक सहानुभूति होने लगी थी। बौद्ध धर्म के दया और करूणा के कारण हर्षवर्द्धन के मन में बौद्ध धर्म के प्रति अधिक आकर्षण हो गया था और तभी उसमें उन भावों को दिखाया गया है।

भारतीय समाज और धर्म का सही स्वरूप हर्षवर्द्धन के नाटकों में अच्छी प्रकार से देखा जा सकता है। विद्याधरों के राजा जीमूकेतु राज्य और जीवन का सभी सुख भोगने के पश्चात् भारतीय सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक उद्देश्य और पूर्व परम्पराओं के अनुरूप सपत्नी तपस्या के लिए वन में चले गये। पितृभक्त जीमूतवाहन ने भी माता-पिता के साथ वन जाने का आग्रह किया।

पिता-पुत्र ने राज्य का समस्त भार मंत्रियों के ऊपर छोडकर प्रायः सभी सांसारिक सुखों को तिलांजलि दे दी। "मैने प्रजा को न्याय के मार्ग में लगाया है। सज्जनों को सुखपूर्वक रखा है, अपने बन्धुजनों को अपने समान बनाया है। राज्य की पूरी रक्षा की है। मनोरथो से भी अधिक फल देने वाला कल्पवृक्ष भी भिखारियों को दे डाला है इससे अधिक और कौन कार्य करना बाकी है? जिसे तुम सोच रहे हो।[159]

वास्तव में कवि की कविता और साहित्यकार की रचना उसके सही चिंतन और अनुभूतियों का माध्यम होता है। सम्राट् हर्षवर्द्धन के हृदय के सच्चे भावों को जानने के लिए उसका अन्तिम नागानन्द नाटक बहुत बड़ा स्रोत है। पूर्व वर्णित नागानंद नाटक के श्लोक से हर्षवर्द्धन के हृदय के सच्चे भावों की अभिव्यक्ति अवगत होती है क्योंकि उसके हृदय में जगत् के सही स्वरूप को दखेकर अपने राजधर्म के प्रति सही कर्तव्य बोध हो चुका था। कहीं भी उसे वैयक्तिक स्वार्थ में नही देखा गया है। उसने नैतिक, धार्मिक और राजधर्म की दृष्टि से प्रजा को न्याय के पथ पर लगाया हुआ था क्योंकि न्याय पथ पर चलने वाले कभी भी अन्यायपूर्ण एवं अनैतिक कार्य नहीं करते हैं, सज्जनों को सुख पहुंचाने का पूर्ण प्रयत्न किया हुआ था। अपने बंधु-बान्धवों को समता की दृष्टि से देखकर अपने ही समान बनाया हुआ था और अपनी प्रजा में याचकों को कल्पवृक्ष के समान पूरी सुख-सुविधाएँ प्रदान की हुई थी।

इससे सम्राट् हर्षवर्द्धन की न्यायप्रियता, सज्जनों के प्रति निष्ठा और सुरक्षा दिखती है। सच्चे शासक अपने राजधर्म के सही ज्ञान के द्वारा प्रजा का रंजन और रक्षण करते हैं। राजतंत्र शासन व्यवस्था होने पर भी प्रजा के हित का शासक को अधिक ध्यान था। राजा या शासक के न्यायप्रिय, पक्षपातरहित, प्रजाहितैषी होने और असहायों की सहायता करने पर राज्य में कहीं भी कभी भी अव्यवस्था एवं अराजकता नहीं आ सकती है।

नागानन्द नाटक में दानवीरता का हर्षवर्द्धन ने जीमूतवाहन नाटक के द्वारा अपने चिंतन को अपनी सही अनुभूतियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इस नाटक से ही हर्षवर्द्धन का कृतित्व और व्यक्तित्व अच्छी प्रकार से अवगत होता है। बौद्ध धर्म के सिद्धांतों में हर्षवर्द्धन ने मानवता के सच्चे भावों

को अधिक सूक्ष्मदृष्टि से देखा है।

जीमूतवाहन इस नाटक में अपने मित्र के साथ माता-पिता के लिए अच्छी सी तपोभूमि को खोजने के लिए वन मे घूम ही रहा था कि सहसा उसे संगीत की ध्वनि सुनाई देती है। वह और उसका मित्र लताकुंज में बैठकर संगीत और राजकुमारी मलयवती और उसकी सहेली की बातें सुनने लगते हैं। वह राजकुमारी गौरी की वन्दना करने के लिए मंदिर में आयी थी और उसे स्वप्न में देवी गौरी ने वरदान दिया था कि शीघ्र ही तेरा परिणय किसी विद्याधर चक्रवर्ती राजकुमार से होगा। गौरी देवी की पूजा करने के पश्चात् राजकुमारी मलयवती ने राजकुमार को देखा और जीमूतवाहन ने मलयवती को देखा। दाहिनी आंख फड़कने पर जीमूतवाहन सोचता है कि मुझे किसी फल की कामना नहीं है किंतु मुनियों का वचन भी कभी झूठा नहीं होता है। अतः आज मुझे इसका फल मिलेगा?[160]

इस प्रकार हर्षवर्द्धन द्वारा वर्णित प्रसंग इस बात के भी द्योतक हैं कि वह धर्म सहिष्णु और सच्चे अर्थों में समन्वयवादी था। वह बौद्ध धर्म से प्रभावित अवश्य था किंतु उसके हृदय में ब्राह्मण धर्म के प्रति भी पूर्ण आस्था और श्रद्धा थी। वह स्वस्थ मान्यताओं का गुणग्राही था। उसे शकुन शास्त्र पर भी विश्वास था और शुभकर्मों के करने पर मानव अपने जीवन में ही उसका सही फल प्राप्त कर लेता है। स्वस्थ परम्पराओं का उल्लेख करते हुए हर्षवर्द्धन ने उनको ग्रहण करने से मानव के जीवन में अनेक प्रकार के लाभ भी दिखाये हैं। मानव के जीवन में इसके साथ पूजा-पाठ और देवी-देवताओं की अराधना का भी राजकुमारी मलयवती के प्रसंग में अच्छी परम्पराओं का उल्लेख किया है।

वैवाहिक संबंध की स्थापना में दोनों जीमूतवाहन और राजकुमारी मलयवती अधिक चिंतित थे और उसका चित्र बनाकर अपने मन को प्रसन्न करता था। इस प्रकार के प्रसंग इस बात के भी सूचक हैं कि सम्राट् हर्षवर्द्धन को चित्रकला के प्रति भी अधिक अभिरूचि थी। अपने नाटकों में नायिकाओं के चित्रों के द्वारा मिलन जैसा सुख भी अनुभव किया जाता है। हर्षवर्द्धन ने गन्धर्व विवाहों का भी उल्लेख किया है किंतु प्राचीन सामाजिक व्यवस्थाओं का

पूर्ण ध्यान रखकर विवाह संसकार पर भी अधिक ध्यान रखा है। सस्कारों की पवित्रता का भी हर्षवर्द्धन पूर्ण ध्यान रखा है।

अपनी बहिन मलयवती के विषय मे उसका भाई, जीमूतवाहन की दानवीरता पर वह इस प्रकार सोचता है-"अपनी बहिन को इस जीमूतवाहन को विवाह में देते हुए मुझे यह समझकर कि यह विद्याधरों के राजवंश में श्रेष्ठ है। चतुर, सज्जनों में मानवीय, सुन्दरता में अद्वितीय, वीरता में धनी, विद्वान, नम्र और युवक है, अत्यंत संतोष होता है। परन्तु दूसरी ओर यह जान कर कि यह दयालुता के कारण जीवों की रक्षा के लिए अपने प्राणो को भी देने को तैयार है। इसी का मुझे प्रसन्नता और अत्यंत खेद है।"[161] अपने भाई की बातें सुनकर मलयवती को अधिक दुख होता है और वह वृक्ष पर लटककर आत्महत्या के लिए उद्यत हो जाती है। इसे सुनकर जीमूतवाहन दौड़कर जाता है और उसे अपना बनाया चित्र दिखाता है जिसे देखकर मलयवती को शांति होती है और दोनों का गंधर्व विवाह हो गया और उसके साथ ही राजकुमार के माता-पिता ने सहर्ष संबंध स्वीकार कर लिया।

हर्षवर्द्धन ने विवाह-संस्कार और सम्बन्ध के विषय में सत्य अनुभव को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है "एक दूसरे के देखने से होने वाला समागम विवाह, समान रूप, समान प्रेम, समान कुल और आयु वाले किसी ही पुण्यात्मा का हुआ करता है।" [162]

मानवीय मनोवृत्तियों और जीवन के सघर्षों से दुखी होकर भी कवित्व शक्ति रखने वाले हर्षवर्द्धन ने नागानंद आदि नाटकों में अपनी नायिकाओं को निराश होकर आत्महत्या का प्रयास करते हुए भी दिखाया है। मानवीय समाज में जीवन के संघर्ष से दुखी अथवा भग्नाशा के कारण भी मानव अपनी जीवन लीला समाप्त करने के लिए उद्यत हो जाता है। नाटककार सम्राट् हर्षवर्द्धन ने कुशल प्रशासक और पराक्रमी राजा होने के कारण पुरूषों में ऐसी त्रुटियाँ नहीं दिखायी है। अपनी बहिन राज्यश्री को भी पति की मृत्यु, शत्रु के बंधन में पड़ने और आगे संतान का सहारा न होने पर भी आत्महत्या करते हुए देखा था। अतः मानवीय मनोवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए भी हर्षवर्द्धन ने अपने नाटकों में इस प्रकार के दृश्यों को दिखाया है। कवि समाज का प्रतिनिधि

होता है। अतः वह समाज में जो देखता है उसे अपनी रचनाओं में व्यक्त कर ही देता है।

संस्कृत साहित्य में नाटककारों की एक सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि सुख-दुख और जीवन मे सभी प्रकार के संघर्षों का सामना करने के पश्चात् भी दुखान्त नाटक कहीं भी नहीं देखा जाता है क्योंकि नाटकों का उद्देश्य मनोरंजन, आनंदानुभूति, शिक्षा ग्रहण करना और सुख-शांति प्राप्त करना रहा है। अतः सभी भयावही परिस्थितियों का वर्णन करते हुए भी दुखान्त नाटकों का प्रचलन नही रहा है। संस्कृत नाटक साहित्य में सभी नाटक सुखान्त है। अनेक प्रकार के संघर्ष होने के पश्चात् नाटकों का अंत सुखान्त है क्योंकि दृश्य काव्य नाटकों को दर्शक सुख प्राप्ति के लिए ही देखते है। यद्यपि करूणापूर्ण नाटकों को देखने से दर्शकों की आंखों में करूणा के कारण अश्रु प्रवाह होने लगता है किंतु ये आंसू दुख के नहीं विशेष आनंदानुभूति के होते हैं और सहृदयों को ही करूणा के कारण आते है। दुखों की अनुभूति करने वाले सहृदय व्यक्ति ही दूसरे के दुखों के प्रति सहानुभूति करने वाले होते है। जिसने कभी दुख नहीं भोगा है वह दुख और दुखियों के साथ सहानुभूति कर ही नही सकता है। दुखियों की सही मनःस्थिति दुखी व्यक्ति ही जान सकता है।

जीमूतवाहन और मलयवती के विवाह के पश्चात् सभी में प्रसन्नता का संचार हो गया था।

कुछ समय के पश्चात् मित्रावसु जीमूतवाहन को उसके साम्राज्य पर मतंग नाम के शत्रु के द्वारा अधिकार करने का समाचार सुनाता है किंतु राजकुमार न दुखी होता है और न सुखी। साम्राज्य पर शत्रु द्वारा अधिकार जमाने के पश्चात् भी राजकुमार जीमूतवाहन अपने मन की सही बात इस प्रकार कहता है-"जो बिना मांगे ही दया के कारण दूसरों के लाभ के लिए अपने प्राणों को भी दे सकता है, वह व्यक्ति क्या कभी राज्य के लिए प्राणियों को निर्दयता से मौत के घाट उतारने की कैसे अनुमति दे सकता है।"

सम्राट् हर्षवर्द्धन के हृदय के राजा और कवि होने के विचार पूर्व वर्णित

उद्धरण में बड़ी ही अच्छी प्रकार से देखे जाते हैं। अपने चिंतन के द्वारा ही कवि अपने हृदय के सच्चे भावों को प्रसंग या माध्यम पाकर उन्हें वर्णन कर ही देता है। हर्षवर्द्धन ने अपने अंतिम और प्रधान नाटक में बौद्ध धर्म के महत्व, अपनी अहिंसक भावना एवं राज्य प्राप्ति के लिए मानवता को सर्वोच्च्व स्थान दिया है। अपने जीवन के अंतिम भाग मे हर्षवर्द्धन परमकारूणिक, दयालू तथा अहिंसक विचार धारा का हो गया था। उसने जीमूतवाहन को माध्यम बनाकर अपने हृदय की सही अनुभूति को नागानंद नाटक में अभिव्यक्त किया है। कवि, लेखक और सच्चे मानवीय भावों को रखने वाला व्यक्ति अपने मन के भावो को अपनी रचनाओ में स्पष्ट कर व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और मानवता को सच्ची शिक्षा देकर शांतमय वातावरण में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने का मार्ग बताता है। सम्राट् हर्षवर्द्धन ने भी अपने जीवन में सुख-दुख के साथ संघर्ष करते हुए जो अनुभव किया और सही समझा उसे भविष्य में समाज के समक्ष शिक्षाग्रहण करने के लिए प्रस्तुत किया है।

संसार में सदा से राज्य को पाने के लिए अनेक प्रकार के षडयंत्र, अत्याचार और रक्तपात हुए हैं एवं हो रहे हैं किंतु उन रक्तपातों को रोकने एवं प्राणिमात्र को सुख से जीवित रहने का हर्षवर्द्धन ने अपने नाटकों के पाठकों तथा दर्शकों को मार्ग दिखाया है। अपने नागानंद नाटक में जीमूतवाहन को माध्यम बनाकर अपने कवि हृदय और सच्चा शासक होने का अच्छा परिचय इस प्रकार से दिया है-"जीमूतवाहन अपने साले मित्रावसु के साथ घूमते-घूमते समुद्र के किनारे चले गये। वहां उनकी दृष्टि हड्डियों के कई ढ़ेरों पर पड़ी। जीमूतवाहन ने मित्रावसु से इन सबको जानने की उत्सुकता व्यक्त की। मित्रावसु ने इन हड्डियों की एक कारूणिक कथा सुनाई-नागराज बासुकि ने पक्षीराज गरूड़ के भय से नित्य प्रति एक-एक सांप देने का नियम बना लिया है। गरूढ़ बहुत पुराने समय से सांपों को खाने के बाद यहाँ हड्डियाँ छोड़ देते हैं। यह सब सुनकर दयालू जीमूतवाहन को बहुत दुख हुआ और वह एक नाग की रक्षा के लिए अपना शरीर देना अपना सौभाग्य समझता है। मित्रावसु पुनः अपने घर चला जाता है। "इसके पश्चात् एकाकी घूमते-घूमते जीमूतवाहन को किसी वृद्धा स्त्री की रोने की आवाज सुनायी दी, आज इस वृद्धा के बालक की बारी थी, जो उसका एकमात्र पुत्र

था। उसका नाम शंखचूड़ था। उसी पुत्र के वियोग में वृद्धा जोर-जोर से विलख रही थी। दयालू जीमूतवाहन शंखचूड़ नाग की जगह पर बध्यशिला पर लाल कपड़े पहन कर चला गया। गरूड़ उसे उठा कर ले गया और आकाश से देवों ने उसकी परोपकारिता पर पुष्प वृष्टि की।"

जीमूतवाहन विद्याधर आश्चर्य के साथ सोचता है-"सब अपवित्रताओं के घर, कृतघ्नी और नष्ट हो जाने वाले इस शरीर के लिए मूर्ख कितना पाप करते है।[163]

सम्राट् हर्षवर्द्धन ने संसार के समस्त सुखों और इस नाशवान अपवित्र शरीर के विषय में अपने नागानंद नाटक के प्रसंग में अपने मन की बातें कह ही दी। मनुष्य धन, बल और सत्ता को पाकर इस नाशवान शरीर पर कितना अभिमान कर ले जाता है। जीमूतवाहन अपने इस नाशवान शरीर को परोपकार के लिए बलिदान कर देता है और सम्राट् हर्षवर्द्धन ने जीवन एवं जगत के क्षणिक सुखों को देखकर अपना शेष जीवन प्रजा के कल्याण और मानव जीवन को सच्चा सुख एवं मार्ग दिखाने वाले धर्म के प्रचार-प्रसार मे लगा दिया था।

विलम्ब होने के कारण जीमूतवाहन अपने माता-पिता और पत्नी के पास न जा सका तथा पिता जीमूतकेतु ने प्रतिहारी को संदेश देकर भेजा। ठीक उसी समय जीमूतवाहन का रक्त से सना हुआ चूडामणि जीमूतकेतु के पास जा गिरा। उसे देखकर तीनों माता-पिता और पत्नी स्तब्ध हो जाते हैं। तभी उन्हें शंखचूड नाम का नाग मिल गया और उसने जीमूतकेतु को सारा वृतांत बता दिया। जीमूतवाहन का सारा समाचार सुनकर उसके पिता, माता और पत्नी अपने शरीर को अग्नि में प्रवेश करना चाहते हैं किंतु शंखचूड़ रक्त की बूंदों को देख कर मलयपर्वत पर पहुँचकर गरूड से कहता है कि आप मूल से जीमूतवाहन को उठाकर ले आये। इससे गरूड़ प्रायश्चित के रूप में अग्नि में जलना चाहता है किंतु जीमूतवाहन उसे समझाता है कि पाप से इस प्रकार प्रायश्चित करो कि भविष्य में किसी को कष्ट मत दो और किसी भी प्राणि की हिंसा मत करो। इस पर गरूड़ जीमूतवाहन की बात मानकर कहता है- "मैं

अज्ञान की नींद में सो रहा था। आपने मुझे उससे उठा दिया है। मै आज से सभी प्राणियों की हिंसा करना छोड़ रहा हूँ।"[164]

सही नाटककार होने के कारण से हर्षवर्द्धन ने अज्ञान को मानव का सबसे बड़ा शत्रु माना है। ज्ञान ही अज्ञान को दूर कर सकता है और तभी मानव सत्य मार्ग पर चल कर जीवन का सही महत्व समझता है। समस्त प्रकार की सामाजिक, धार्मिक और अध्यात्मिक बुराइयां अज्ञान के द्वारा ही होती हैं। ज्ञान होने पर हिंसा, बुराइयॉ और मानव के समस्त प्रकार के दोष नष्ट हो जाते हैं जीवन और जगत का सही स्वरूप कवि हृदय रखने वाले सम्राट् हर्षवर्द्धन ने बड़ी ही विदग्धता से वर्णन किया है।

राजकुमार जीमूतवाहन गरूड़ द्वारा किए गए घावों से चेतना शून्य हो जाता है। माता-पिता और पत्नी शोक से व्याकुल होकर विलाप करने लगते हैं। गरूड़ अपने अपराध के कारण प्रायश्चित के साथ स्वर्ग में अमृत लेने चला जाता है। मलयवती भगवती गौरी को उलाहना देती है कि आपने मुझे चक्रवती राजा की पत्नी होने का वरदान दिया था किंतु यह सब झूठा हो रहा है। उसी समय भगवती गौरी प्रकट होकर सभी को सान्त्वना देकर कहती हैं- "अपने जीवन को देकर भी तुम जगत का उपकार करने वाले हो। हे वत्स! जीमूतवाहन मैं तुम पर प्रसन्न हूँ , तुम उठो।[165]

अन्त में आकाश से अमृतवर्षा होती है और सभी मृतक जीवित हो जाते हैं। इस प्रकार हर्षवर्द्धन की नाट्यकला को देखकर यह सिद्ध होता है कि वह शासक के साथ ही साथ सफल नाटककार भी था। अपने नाटकों में अपने पात्रों का जीवन अपने समान ही अत्यंत संघर्षमय दिखाया है। हर्षवर्द्धन अपने तीनों नाटकों में कुछ मिलती-जुलती एक समान घटनाओं को लेकर कथावस्तु को प्रारम्भ करते है। तीनों नाटको में नायिकाएँ नायक के न मिलने पर लज्जा से आत्महत्या करना चाहती हैं। नागानंद नाटक में मलयवती पेड़ पर लटकर आत्महत्या करना चाहती है। इन तीनों नाटकों के रचयिता हर्षवर्द्धन की नाट्यकला से यह स्पष्ट होता है कि तीनों का रचयिता एक ही व्यक्ति था। हर्षवर्द्धन के युग में समाज में धर्म के प्रति प्रजा की अधिक आस्था थी और ज्ञान की प्राप्ति की ओर प्रजा एवं राजा की अधिक रूचि थी। अज्ञान, अंधकार

को दूर करने के लिए शिक्षा का अधिक विकास था। राजा भी साहित्य निर्माण और प्रजा के कल्याणकारी कार्यों के लिए अधिक प्रयत्नशील रहते थे। हर्षवर्द्धन स्वयं भी एक अच्छा विद्वान, लेखक, और कलापारखी था। उसके विषय में यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शासन को सुस्थिर करके अपने जीवन के अंतिम भाग में एक सफल नाटककार हो गया था और बौद्ध धर्म के कार्यों से प्रभावित होकर जातक कथाओं तथा विद्याधर जातक से बोधिसत्व का चरित्र लेकर नागानंद नाटक की रचना की। नाटक के अंत मे आस्थावादी तथा भगवती गौरी के आशीर्वाद के साथ सुखांत दिखाया है। सम्राट् हर्षवर्द्धन शिलादित्य नाम से और संस्कृत साहित्य में नाटककार के रूप में "श्री हर्ष" नाम से विख्यात थे।

संस्कृत साहित्य में हर्षवर्द्धन के योगदान का मूल्यांकन करते हुए इतिहासकारों और संस्कृत के विद्वानों की विभिन्न प्रकार की विचारधाराएं हैं। संस्कृत साहित्य में हर्ष नाम के पांच व्यक्ति हैं-

1-नैषद्यचरित महाकाव्य का रचयिता श्री हर्ष। किंतु नषैद्य काव्य रचयिता श्री हर्ष ने अपने काव्य के प्रत्येक सर्ग के अंत में अपना परिचय इस प्रकार दिया है-"जितेन्द्रिय श्री हरि और मम्मालदेवी से जो सुशोभित हो रहा था।"[166] यह कान्यकुब्ज के राजा जयचन्द्र का आश्रित कवि था।

2-कल्हण ने अपनी राजतरगिणी के सप्तम तरंग में कश्मीर के राजा कलश के पुत्र हर्ष का भी वर्णन किया है। कश्मीरी श्री हर्ष भी दानवीर था और चक्रवती राजा था किंतु वह कुटिया में छिपे रहने पर मारा गया था।

3-काव्यप्रदीप के रचयिता का छोटा भाई भी हर्ष के नाम से ख्याति पा चुका था।

4-हर्ष नाम से धारानगरी के राजा भोज का पितामह एवं राजा भोज के पिता भी हो चुके हैं।

5-अन्य चार हर्ष नाम के राजा भिन्न-भिन्न समयों में हुए हैं किंतु कवि और प्रजाहितैषी राजा हर्षवर्द्धन का सही वर्णन बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में

सातवीं शताब्दी में शासन और कविता करने वाले हर्षवर्द्धन का ही वर्णन किया हैं। अपने तीनों नाटकों के प्रारंभ में हर्षवर्द्धन ने स्वयं अपना परिचय इस प्रकार दिया है- श्री हर्ष निपुण कवि हैं और यह परिषद भी गुणों को को ग्रहण करने वाली है, बोधिसत्व का चरित्र इस संसार में मनोहर है और हम लोग नाट्यकला में चतुर हैं।[167]

इस प्रकार पूर्व वर्णित उद्धरण से सम्राट् हर्षवर्द्धन के विषय मे स्पष्ट हो जाता है कि वह रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानंद नाटक का रचयिता है। कुछ विद्वानों की ऐसी भी धारणा है कि हर्षवर्द्धन ने धन देकर धावक के नाम के कवि से ये तीनों नाटक क्रय किये थे क्योंकि काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट और साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने काव्य के प्रयोजन में इस प्रकार लिखा है- 'काव्य यश का दाता, अर्थ का जनक, व्यवहार का बोधक, अनिष्ट नाशक, पठन, श्रवण में परमांनद देने वाला और कान्ता (स्त्री) के समान सरस उपदेश प्रदान करने वाला होता है।[168]

दोनो लक्षण ग्रंथों में हर्ष के द्वारा धावक को धन देने का उल्लेख है- ''श्री हर्षादेधावकादीनामिव धनम्।' कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि संस्कृत साहित्य के इतिहास में धावक नाम का कोई कवि नहीं हुआ है। अपितु बाणभट्ट का दूसरा नाम ही धावक था।

जो कुछ भी हो किंतु पूर्व वर्णित तीनों नाटक सम्राट् हर्षवर्द्धन की संस्कृत साहित्य के प्रति सही अभिरूचि के परिचायक हैं। विद्वानों की सत्संगति और सांसारिक दुखों को देखकर हर्षवर्द्धन ने जो भी चिंतन किया है उसे अपने काव्यों में अनुभव करके उसे सही रूप में अभिव्यक्त भी कर दिया है। अतः ये नाटक सम्राट् हर्षवर्द्धन की रचनाएँ हैं। क्योंकि वह स्वयं नाटककार, कवियों का गुणग्राही और उन्हें आश्रय देने वाला रहा है। उनके साथ रहने से क्या हर्षवर्द्धन नाटककार नहीं बन सकता था।?[168]

हर्षवर्द्धन स्वयं भी ज्ञान की देवी सरस्वती का सच्चा उपासक था। अतः वह सरस्वती के साधक विद्वानों का भी रक्षा व सम्मान करता था। हर्षवर्द्धन ने विद्वानों और अपने युग के लेखकों और नालंदा जैसे विद्या के मंदिरों को

मुक्त हाथों से दान भी दिया है। हर्षवर्द्धन की राजसभा में अनेक विद्वान आश्रय पाते थे।

हर्षचरित के लेखक महाकवि बाणभट्ट हर्षवर्द्धन की राजसभा के प्रमुख कवि थे। संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट गद्य काव्य के विषय में अधिक विख्यात है। बाण ने हर्षचरित और कादम्बरी में लम्बे समासों एवं अलंकारों द्वारा अपना शब्द वैशिष्टय दिखाया है। यहां तक कि शब्द भण्डार अधिक होने से शब्द को कई बार अपनी रचनाओं में नही आने दिया है। इसी आधार एवं तथ्यों के आधार पर ही संस्कृत के विद्वानों ने बाण की विद्वता का मूल्यांकन करते हुए इस प्रकार कहा है- ''संपूर्ण शब्द जगत् बाण का जूठा है? 'वानोच्छिष्टं जगत सर्व' अर्थात् बाणभट्ट ने कोई भी ऐसा शब्द नहीं छोडा जिसका अपने गद्य काव्यों में वर्णन न किया हो। अपने प्रारंभिक जीवन में बाणभट्ट एक बहुत बड़ा घुमक्कड़ था। हर्षचरित बाणभट्ट की प्रथम ऐतिहासिक रचना है। बाणभट्ट ने सम्राट् हर्षवर्द्धन के राज्यकाल की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थिति का सही आंखों देखा वर्णन किया है। वास्तव में बाणभट्ट ने संस्कृत के विद्वानों का परिचय ने देने की परम्परा को तोड़कर परिचय देने की एक नई परम्परा स्थापित की है। हर्षवर्द्धन के शासन काल का सही इतिहास जानने का इसी आधार पर बाण के हर्षचरित को मुख्य आधार माना जाता है।

बाणभट्ट का प्रारंभिक जीवन घुमक्कड के साथ कुछ उदण्डपूर्ण भी रहा है। जैसा कि यौवन में प्रायः नव युवकों मे देखा जाता है। अपनी उत्कृष्ट गद्य रचना कादम्बरी में शुकनाश प्रसंग में नवयुवकों की यौवनकालीन मनःस्थिति का बहुत ही सटीक विवेचन किया है-''यौवन के आने पर नवयुवक की बुद्धि हवा में उड जाती है।'' बाण की विद्वता देखकर सम्राट् हर्षवर्द्धन ने उसे राजसभा में बुलाया। बाण ने हर्षवर्द्धन के वंश का पूरा परिचय अपने हर्षचरित में दिया है। वास्तव में हर्षचरित एक आख्ययिका है। हर्षचरित बाणभट्ट की प्रथम रचना है। इसमें आठ उच्छ्वास है। प्रथम उच्छ्वास में बाण ने अपनी आत्मकथा लिखी है। द्वितीय उच्छ्वास में बाण यह दर्शाने का प्रयास करते है कि गुणों के द्वारा ही राजा और कुए से पानी प्राप्त किया जा सकता

है, क्योंकि बाण ने अपने गुणों से ही सम्मान पाया है। 'जिस प्रकार गहरे कुएँ में सीढ़ियाँ न होने से रस्सी (गुण) के द्वारा जल निकाला जाता है। उसी प्रकार अत्यंत गंभीर स्वाभाव वाले राजा गुणज्ञ लोगो की सहायता से ही अपनी अभीष्ट सिद्धि कर सकता है।[169]

ग्रीष्मऋतु में बाण को हर्षवर्द्धन के भाई राज्यर्वद्धन ने राजभवन में बुलाया। अपने गांव को छोड़कर बाण वर्द्धन राज्य में पहुँच जाता है। वहां अश्वशाला में बाण ने दर्पशात नाम का हाथी देखा। पशुओं, हाथी, घोडों का सभी प्रकार से बाण ने बड़ी ही सूक्ष्मता से वर्णन किया है। इससे बाणभट्ट की पुशपालन, उनकी चिकित्सा और सुरक्षा का विशेष ज्ञान भी अवगत होता है। पशुओं की विभिन्न जातियों की विशेषताओं को भी बाण जानता था।

तृतीय उच्छ्वास में बाण अपने परिवार वालों को वर्द्धन राजवंश के संस्थापक पुष्यभूति और श्रीकण्ढ से लेकर हर्षवर्द्धन तक के राजाओं का विशद विवरण सुनाता है। स्थाण्वीश्वर तथा पुष्यभूति का वर्णन करते हुए भैरवाचार्य द्वारा पुष्यभूति को तलवार देना लक्ष्मी का प्रसन्न होकर पुष्यभूति को वरदान देते हुए भविष्य के पुष्यभूति वंश में उत्पन्न होने वाले राजाओं का परिचय देता है।

चतुर्थ उच्छ्वास मे हूणहरिण केशरी राजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन के यश का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें महारानी यशोवती प्रभाकरवर्द्धन की रानी का स्वप्न देखना और राज्यवर्द्धन, हर्षवर्द्धन और राज्यश्री का जन्म होना, दोनों राजकुमार भण्डि को अनुचर के रूप में ग्रहण करना, कुमारगुप्त और माधवगुप्त दोनों राजकुमारो के अनुचर के रूप में नियुक्त होना तथा मौखरि-वशं के राजकुमार ग्रहवर्मा के साथ राज्यश्री का विवाह होने का वर्णन है।

पंचम उच्छ्वास में राजा प्रभाकवर्द्धन का रूग्णावस्था में रहना, राज्यवर्द्धन हूणों के साथ युद्ध करने को भेजना और पीछे-पीछे हर्षवर्द्धन का भी युद्ध के लिए जाना, पिता की बीमारी के बुरे-बुरे स्वप्न देखना, अकस्मात् कुरंगल नाम के दूत द्वारा पिता प्रभाकरवर्द्धन की बीमारी का समाचार सुनना और पुनः हर्षवर्द्धन का राजधनी से लौटना और बड़े भाई राज्यवर्द्धन को भी

इसका समाचार भेजना आदि का वर्णन है। राजभवन में पहुँचते ही हर्षवर्द्धन को देखते ही पिता को प्रसन्नता हुयी और उसे हृदय से लगा लिया। अनेक गुणग्राही औषधियों द्वारा प्रभाकरवर्द्धन का उपचार किया गया। उसी बीमारी को देखकर रानी यशोवती सती हो जाती है, हर्षवर्द्धन माता को ऐसा न करने की प्रार्थना करता है किंतु वह अनिष्ट नहीं देखना चाहती है। हर्षवर्द्धन भाई राज्यवर्द्धन और बहिन राज्यश्री के लिए अधिक चिंतित है। इस पर राजा प्रभाकरवर्द्धन हर्षवर्द्धन को सांत्वना देता है। तुम कुल के दीप हो। इस संसार में साहस से राज्य करो। सान्त्वना देते हुए ही प्रभाकरवर्द्धन स्वर्ग सिधार गए।

षष्ठं उच्छ्वास में राज्यवर्द्धन का राजधनी में लौटना और हर्षवर्द्धन को समझाना आदि का वर्णन है। अभी दोनों भाई पिता की मृत्यु को नहीं भूल पाये थे कि बहनोई ग्रहवर्मा की मृत्यु और बहिन राज्यश्री का बन्दिनी बनाये जाने का समाचार सुनकर राज्यवर्द्धन का क्रोध जाग्रत हो जाता है और वह युद्ध के लिए प्रस्थान कर देता है। हर्षवर्द्धन को एक दुख के पश्चात् अनेक प्रकार के दुख झेलने पड़े। राज्यवर्द्धन की युद्धक्षेत्र में मृत्यु का समाचार सुनकर हर्षवर्द्धन अत्यधिक दुखी हो जाता है, तभी वृद्ध सेनापति सिंहनाद उसे उपदेश देता है। हर्षवर्द्धन दिग्विजय करने की प्रतिज्ञा करता है और प्रतिहार को आज्ञा देकर स्कन्दगुप्त को बुलाया। गजसेना का अध्यक्ष स्कन्दगुप्त राजकुल में प्रवेश करता है।

सप्तम उच्छ्वास के अनुसार ज्योतिषियों से शुभमुर्हुत निकलवा कर सम्राट् हर्षवर्द्धन यात्रा के लिए प्रस्थान करता है। लोगों को दान दिया गया। हंसवेग दूत का आना और उपहार भेट करना, जो भास्करवर्मा द्वारा भेजे गए थे। हंसवेग ने प्राग्ज्योतियेश्वर का संदेश सुनाया कि जिस प्रकार शिव के साथ एकलिंग, इन्द्र के साथ दशरथ और कृष्ण के साथ अर्जुन की मित्रता थी, वैसी ही अपनी और हमारे महाराज की होनी चाहिए। उसके पश्चात् भण्डि ने राज्यवर्द्धन की मृत्यु और राज्यश्री का बन्दिनी बनाना एवं कारागार से भाग कर विन्ध्याटवी के वनों में इधर-उधर घूमने का समाचार सुनाया। इस समाचार को सुनते ही सम्राट् हर्षवर्द्धन अपनी बहिन राज्यश्री की खोज में प्रस्थान कर देता है।

अष्टम उच्छ्वास मे वर्णन है कि सम्राट् हर्षवर्द्धन विन्ध्याटवी में प्रवेश करता है। उस वनप्रदेश के राजा शरभकेतु के बालक व्याघ्रकेतु राजा हर्ष से मिलने आया। हर्षवर्द्धन ने उससे पूछा-क्या तुमने इधर किसी सुन्दर (युवती) को आते देखा है? इस पर व्याघ्रकेतु ने उत्तर दिया-भगवन! इस घनघोर जंगल में अनजाने में कभी हरिणी भी नहीं घूमती, पुनः किसी युवती की बात ही क्या। यहां कुछ दूर पर ही भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले बौद्ध भिक्षु आचार्य दिवाकर मित्र रहते हैं। संभवतः उन्हें कुछ समाचार मालूम हो।

इसके पश्चात् हर्षवर्द्धन दिवाकर मित्र के आश्रम में गया और अपने आने का कारण बताया। भदन्त दिवाकर मित्र ने हर्षवर्द्धन की सहायता की और राज्यश्री का पता लगाया एवं उसे उपदेश देकर हर्षवर्द्धन की आज्ञानुसार कार्य करने की सलाह दी। अपने जीवन से दुखी होने के कारण राज्यश्री कषायवस्त्र धारण कर भिक्षुणी बनना चाहती है किंतु सम्राट् हर्षवर्द्धन भदन्त से अपने भाई के हत्यारे से प्रतिशोध लेने एव प्रजा की सुरक्षा करने के पश्चात् दोनों ही एक साथ दीक्षित होगे, ऐसी प्रार्थना की। जिसे दिवाकर मित्र ने पिता के समान मान लिया और राज्यश्री को उपदेश देकर उसे अपने बड़े भाई हर्षवर्द्धन की आज्ञानुसार कार्य करने के लिए तैयार किया। पुनः हर्षवर्द्धन ने प्रार्थना की कि जब तक मै अपनी प्रतिज्ञा को पूरी न कर लूं तब तक मैं चाहता हूँ कि आप मेरे साथ रहने वाली मेरी बहिन को धार्मिक कथाओं से दुखों को मिटाने वाले भगवान तथागत के सिद्धांतों से समझाते रहें। जब मैं अपना कार्य समाप्त कर लूगा तब मेरे साथ ही वह भी कषायवस्त्र धारण करेगी।

महाकवि बाणभट्ट ने अपनी रचना हर्षचरित को इस घटना के साथ ही समाप्त कर दिया। गौडाधिपति शशांक के साथ कैसे युद्ध हुआ? यह सब घटित घटनाएँ बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में छोड़ दी। इस संबंध में सत्य तथ्य तो नहीं मिलते किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि बाणभट्ट ब्राह्मण धर्मानुयायी और शैवधर्म का कट्टर अनुयायी था। राज्यश्री के विन्ध्याटवी में भटकने और अग्नि में प्रवेश से बचाने के कारण हर्षवर्द्धन का झुकाव बौद्ध धर्म के प्रति हो गया था। बौद्ध धर्म के प्रति उसकी आस्था बढ़ने लगी थी और

सम्राट् हर्षवर्द्धन उनके कहने के अनुरूप कार्य करने लगा था।

कुछ विद्वानों का ऐसा भी मानना है कि बाणभट्ट ने सम्राट् हर्षवर्द्धन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव और अनुराग से अतिंम समय मे उसका साथ छोड दिया था। आगे क्या हुआ उसका विवरण चीनी यात्री हुएनसांग के विवरणें से अवगत होता है। आगे बाणभट्ट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक कादम्बरी की रचना की और उसमें कहीं भी हर्षवद्धन की चर्चा तक नहीं की। गद्यकाव्य के सर्वश्रेष्ठ महाकवि बाणभट्ट के अतिरिक्त अन्य और भी कवि सम्राट् हर्षवर्द्धन की राजसभा में थे।

मयूरभट्ट अपनी विद्वता के कारण ही गुणग्राही एवं विद्या के पारखी सम्राट् हर्षवर्द्धन की राजसभा में सम्मान पाया। मयूरभट्ट ने महाकवि बाणभट्ट के समान कोई विशेष रचनाएँ तो नहीं रचीं किंतु 'सूर्यशतक' नाम का एक स्तोत्र अवश्य ही लिखा था। शारीरिक रोगों के निवाराणार्थ और आरोग्य जीवन प्राप्ति के लिए सूर्यदेव की उपासना के क्षेत्र मे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। महाभारत में कुन्ती ने सूर्य की उपासना और मत्रों के द्वारा ही युद्घिष्ठिर, भीम और अर्जुन जैसे पुत्र प्राप्त किये। अपने कौमार्य जीवन मे उत्सुकतावश दुर्वाशा ऋषि के द्वारा दिया गया सूर्य का मंत्र के उपयोग करने से कुती ने कर्ण जैसा तपस्वी, दानवीर और ब्राह्मण भक्त योद्धा पुत्र प्राप्त किया था। द्यूत में हारने पर युद्धिष्ठिर ने तेरह वर्ष के वनवास के काल मे सूर्य की उपासना से ही एक ऐसी अक्षय अन्न की बटलोई प्राप्त की थी जो द्रोपदी के भोजन करने से पूर्व हजारों लोगों को भोजन कराकर भी खाली नहीं होती थी। यह था सूर्य उपासना की महत्व। इसी प्रकार सम्राट् हर्षवर्द्धन के आश्रित कवि मयूरभट्ट ने भी अपने रोगों को दूर करने के लिए सूर्यशतक स्तोत्र लिखा और अपने आरोग्य जीवन के लिए उस स्तोत्र का प्रयोग भी किया है। मयूरभट्ट, भट्ट होने से बाणभट्ट के निकट के ही व्यक्ति थे। मयूरभट्ट हर्षवर्द्धन के आश्रित कवि ने प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण से अपनी कविता द्वारा यह भी सिद्ध किया है कि व्यक्ति सही निष्ठा से अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को भी प्राप्त करता है और जीवन भर निरोग रह सकता है। वास्तव में भारतीयों के जीवन में इन चार पदार्थों या पुरूषार्थों का सबसे बड़ा महत्व है क्योंकि जीवन मुक्ति के हीं सबसे बड़े आधार माने जाते हैं।

मातंगदिवाकर नाम का कवि भी सम्राट् हर्षवर्द्धन का राजकवि था। निम्नकुल में उत्पन्न होने पर भी अपनी कविता के चमत्कार के कारण एवं अपने गुणों के कारण ही मांतग दिवाकर को सम्राट् हर्षवर्द्धन की राजसभा मे सम्मान मिला। गुण ही व्यक्ति को आदर दिलाने के मुख्य कारण होते हैं। मांतग दिवाकर के विषय में राजशेखर ने इस प्रकार लिखा है। 'अहो! वाग्देवी का कैसा प्रभाव है जिससे मांतंग दिवाकर ने बाणभट्ट और मयूरभट्ट के समान सम्राट् हर्षवर्द्धन की सभा में सम्मान पाया।[170]

सचमुच जगत में यह देखा गया है कि कवि, लेखक एवं विद्वान अपने जीवन में अर्थ के लिए अत्यंत ही दुखी रहते हैं और अपने स्वाभिमानी स्वाभाव के कारण जमकर संघर्ष करते रहते हैं किंतु एक न एक दिन सरस्वती उन्हे वरदान दे देती है। अपनी रचनाओं के द्वारा एक न एक दिन समाज मे सम्मान, अपने मन में शांति, जीवन में सफलता और मरणोपरांत यश पाता हुआ अमर हो जाता है। गुणों के कारण मनुष्य के अनेक अवगुण और दोष छिप जाते हैं। वैसे आज के युग में तो धनवान धन के बल से सब कुछ कर सकता है। साहित्य साधना, साहित्यकार या लेखक को सत्य निष्ठा से अवश्य ही अपना चमत्कार दिखाती है। सरस्वती कभी भी वन्ध्या नहीं होती है। उल्लूक वाहिनी लक्ष्मी विद्वान को अर्थ से दीन बना सकती है किंतु सरस्वती उसे धैर्य और निष्ठा से अभीष्ठ फल दे देती है जिसकी सच्चे सहिष्णु साहित्य साधक को स्वप्न में भी परिकल्पना तक नही रहती है।

बाणभट्ट, मयूरभट्ट और मातंग दिवाकर जैसे आश्रित कवियों से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट् हर्षवर्द्धन ने और भी कवियों को राजाश्रय एवं आर्थिक सहयोग भी अवश्य ही दिया होगा। इससे हर्षवर्द्धन का सस्कृत साहित्य के प्रति विशेष अनुराग, गुणग्राही दृष्टि, स्वयं कवि होने का परिचय, धार्मिक सहिष्णुता और धर्म समन्वय की उदारता का अच्दा ज्ञान होता है। कवि हृदय रखने वाला व्यक्ति ही कवियो का समादर और सहायता कर सकता है। अन्य व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता है क्योंकि गुणवान ही गुणी को पहचानता है और सम्मान देता है और मूर्ख ईर्ष्या करता है।

सम्राट् हर्षवर्द्धन को बौद्ध धर्म और बौद्ध धर्मानुयायी लोगों के प्रति

कृततावश या करूणा एवं उपकार की भावनाओं के कारण उसे बौध धर्म का पोषक माना गया है। वस्तुतः कुछ विद्वानों ने हर्षवर्द्धन को उसके नागानंद नाटक के मंगलाचरण और जातक कथाओं से जीमूतवाहन के करूणा से भरे हुए संवेदनशील होने के कारण उसे बौध्द्ध माना है किंतु ब्राह्मण धर्म ने अपने पुराणों में चौबीस अवताए में गौतम बुद्ध को भी अवतार में गिना है। तभी तो बौद्ध धर्म की महायान शाखा की उपासना पद्धति मूर्तिपूजा आदि को अधिक महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त हर्षवर्द्धन ब्राह्मण धर्म और अपने वंशपरम्परागत शैवधर्म के अनुरूप रत्नावली नाटिका और प्रियदर्शिका के प्रारंभ में शिव पार्वती के प्रति अपना अनुराग दिखाया है। यहाँ पर यह भी परिकल्पना की जाती हैं कि बौद्ध धर्म मे आने से पूर्व संभवतः ये दोनो नाटक लिखे गऐ होगे, क्योंकि नागानंद नाटक उनके बाद की रचना प्रतीत होती है। जो कुछ भी हो किंतु धार्मिक सहिष्णुता और संस्कृत साहित्य के प्रति हर्षवर्द्धन का विशेष आदर देखा गया है।

1-संगच्छध्वं सं वदध्वं संवो मनांसि जायताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।

-ऋग्वेद, 10 मंडल, 191-सूक्त, 2-मत्र।

2-यद्यपि वृहष्पति स्मृति को प्रो0 जाली छठी-सातवीं शती ई0 का मानते हैं।

3-हुएनसांग यात्रा विवरण, टॉमस वाटर्स।

4-अग्निपुराण, 152 ।

5-मिडाइवल इंडिया, जिल्द-1, पृ0-67, चिंतामणि विनायक वैद्य।

6-निधानपुर का दानपत्र, एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द-12 ।

7-चन्मक का दानपत्र, कार्पस इन्सक्रिप्टियोनम् इंडिकारम-जिल्द-3, लेख नं0-88, पृ0-235 ।

8-सम्राट् हर्ष, पृ0-239, 510, डा0 रामनिहोर पाण्डेय।

9-शर्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्र संश्रयम्।

गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्य शूद्रयोः ।। विष्णु, 3, 10, 9, किंतु इस

नियम का सर्वत्र पालन नहीं किया-द्रष्टव्य इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ गुप्ताज-एस0 आर0 गोयल।

10-वाटर्स, जिल्द, 1, पृ0-151 ।

11-वही, पृ0-160 ।

12-सम्राट् हर्ष, पृ0-239-40, डा0 रामनिहोर पाण्डेय।

13-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग, जिल्द-2, पृ0-138, उद्धृत।

सम्राट हर्ष, पृ0-240, डा0 राम निहोर पाण्डेय।

14-इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ एंशियन्ट इंडिया, पृ0-165, ए0 सी0 दास।

15-अग्नि पुराण, अध्याय, 152, उद्धृत, सम्राट् हर्ष, पृ0-240, डा0 राम निहोर पाण्डेय।

16-स चार्थः पुरूषाणां षड्भिरूपायैर्भवति-भिक्षया, नृपसेक्या, कृषिकर्मणा, विघोपार्जनेन, व्यवहारेण, वजिक्कर्मणा वा ।

सर्वेषामपि तेषां वाणिज्येतिरस्कृतोऽविलाभ स्यात्। पचतंत्र, पृ0-12

17-कृता भिक्षानेकैर्वितरित नृपो नोचितोमहो

कृषि क्लिष्टा विद्या गुरूविनय वृत्तयातिविषमा।

कुसीदाधारिद्रयं परकरगतग्रन्थिशमनान्न

मन्ये वाणिज्यारिकमपि परमं वर्तनमहि।। पंचतत्र, 1.11

18-उपायानां च सर्वेषामुपाय. पण्यसग्रहः ।

धनार्थ शस्यते हयेकस्तदन्यः सशयात्मकः ।। वही 1 12

19-कुमारगुप्त प्रथम के दामोदरपुर वाले लेख से यह ज्ञात होता है कि पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का शासन चिरात दत्त के हाथ था। हिस्ट्री ऑफ ईस्टर्न इंडिया, पृ0-5, बसाक। उद्धृत, हर्षवर्द्धन, पृ0-286-87, गौरी शंकर चटर्जी।

20-हर्षवर्द्धन, पृ-287, गौरी शंकर चटर्जी।

21-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग जिल्द-2 पृ0-168,-वाटर्स।

22-वही, पृ0-16 ।

23-पाणिनि का सूत्र-शूद्राणां अनिरवासितानां" और उसी का पतंजलि कृत भाष्य, उद्धृत, हर्षवर्द्धन, पृ0-287, गौरीशंकर चटर्जी।

24-हुएनसांग, यात्रा विवरण, वोल्यूम-1, पृ0-168, वाटर्स।

25-वही, पृ0-147 ।

26-प्रविश्य च सा......... ... .वेणुलतामादाय

नरपतिप्रबोधनर्थेसंस्कृतसमाकुट्टिममाजधान-कादम्बरी, प्रथम अध्याय, पृ0-21, बाण।

27-अमूर्तमिव स्पर्शवर्जितामालेख्यगतामिव दर्शनमात्रफलां-वही, पृ0-25 ।

28-सम्राट् हर्ष, पृ0-242, डा0 राम निहोर पाण्डेय।

29-तत्र संततमेवविधविजयसिद्धये कुमारं देवतोपहारं करिष्यन्तः

किरातः..................। दशकुमारचरित, प्रथमोंच्छ्वास, पृ0-32, दण्डी।

30-हर्ष, पृ0-222, यदुनन्दन कपूर।

31-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग जिल्द-2 पृ0-138, वाटर्स।

32-हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास, बाण।

33-तथा च भ्रातरौ पारशर्वो चन्द्रसेनसामृषेर्णो...पृ0-16 ।

34-हुएनसांग, यात्रा विवरण, जिल्द-1, पृ0-168, वाटर्स।

35-कार्पस इंसक्रिप्टियोनम इंडिकारम, जिल्द-3, पृ0-152-54, जिसकी वैद्य महोदय ने अपनी मिडाइवल इंडिया, जिल्द-1, पृ0-62 में उद्धृत किया है।

36-कार्पस इंसक्रिप्टियोनम इंडिकारम, जिल्द-3, पृ0-152-154, फ्लीट, उद्धृत हर्षवर्द्धन पृ0-289-90 गौरीशंकर चटर्जी।

37-दत्वा च राजदौवारिकमिव राजकुले रणरणकं यौतकनिवेदिता नीव शम्बलान्यादाय हृदयानि सर्वलोकस्य कथंकथमपि निसर्जितो नृपेण सह स्वदेशमगमदिति-हर्षचरित, पृ0-18, बाण।

38-उद्वेगमहावर्ते पातयति पयोधरोन्नमनकाले।

सरिदिव तटमनुवर्ण विवर्धमाना सुता पितरम् ।। चतुर्थ उच्छ्वास, पृ0-5, हर्षचरित, बाण।

39-हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग-1, पृ0-275-76, पी0 वी0 कांणे।

40-प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पृ0-159, ओम प्रकाश।

1-विष्णुधर्म सूत्र, 14, 38-39 ।

42-याज्ञवल्क्य, 1-63-64 ।

43-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग, जिल्द-2, पृ0-138, वाटर्स।

44-उद्धृत, हर्षवर्द्धन, पृ0-292, गौरीशकर चटर्जी।

45-वृहस्पति स्मृति XVI 12, से0 बु0 ई0 ,XXXIII, I पृ0-369,

46-मनुस्मृति, VIII, 132-37 ।

47-मृते भर्तृहरि संप्राप्तान्देवरादीनपास्यया।

उपगच्छेत्परं कामात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता, नारद, 12, 20, से0 बु0 ई0 XXXIII ।

48-असाबपि (उपरतः) आत्मधातिनः केवलमेनसा संयुज्यते जीवंस्तु जलांजलिदानादिना बहूपकरोत्युपरतस्वात्मनश्च-कादम्बरी, पृ0-266, बाण।

49-एरण का लेख, कार्पस इंसक्रिप्टियोनम इंडिकारम।

50-राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृ0-344, ए0 एस0 अल्टेकर।

51-संगम युग, पृ0-51, डा0 राम निहोर पाण्डेय। तथा चोल वंश, पृ0-72, नीलकंठ शास्त्री।

52-प्रजापालता वहनातु वैद्यव्यवेणीं परिधतां धवले वाससी बसुमती।-हर्षचरित-पृ0-236, बाणभट्ट।

53-मरणच्चमे जीवितमेवास्मिन् समये साहसम-हर्षचरित-पृ0-231, बाण।

54-अथराज्यश्रीरपि नृत्तगीतादिषु विदग्धासु सरवीषु

सकलासु च कलासु प्रतिदिनमुपचीयमानपरिचया, हर्षचरित-बाणभट्ट।

55-समुद्रमयीव परचित्तशानेषु स्मृतिमयीव पुरायवृत्तिषु-हर्षचरित, पृ0-177, बाणभट्ट।

56-प्रायश्चितत्तशुद्धद्धिरिव स्त्रीत्वस्य-वही, पृ0-177, बाण।

57-ट्रैवल्स ऑफ हुएनसांग, जिल्द, 1, पृ0-147, वाटर्स।

58-(हर्ष) "अवाप तृतीयं कक्षांतरम तत्र च ग्रहावग्रहणीग्राहीवहुवेत्रिणि त्रिगुणतिरूस्करिणीतिरोहित सुवीथापथे पिहितपक्षद्वार के परिहतकपाट हटिते घटितगवाक्षरक्षितमरूति........चंद्रशालीकालीनमूकमौललोके..........प्रच्छन्नप्रग्रीव के संजवनपुंज..धवलगृहस्थितं..........पितरमद्राक्षीत्".....हर्षचरित, पृ0-217-19

बाणभट्ट।

59-निर्मलमणिकुट्टिमनिमग्नप्रतिबिंबनिभेन-वही, पृ0-182।

60-पद नवसुधाधवला-वही, पृ0-207।

61-सुप्रायाः वासभवेन चित्रभित्त चागर ग्रहिणयोपि चामराणि चालयांचक्रः अर्थात् जब देवी यशोमति गर्भावस्था में अपने वास भवन में सोई रहती थीं, तब उनके ऊपर दीवार पर चित्रित चामरग्रहिणी भी चमर डुलाती थी-वही, पृ0--182, बाणभट्ट।

62-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग जिल्द-2 पृ0-133-34, वाटर्स।

63-हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ0-375, वैजनाथ शर्मा।

64-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग जिल्द-2, पृ0-134, वाटर्स।

65-पिनद्धकृष्णागुरूपंककल्कच्छुरणकृष्णशबलकषाय कंचुकेन, उत्तरीयकृत शिरोवेष्टनेन, वामप्रकोष्ठनिविष्टस्पष्टहाटककटकेन, द्विगुणपट्टपट्टिकागाढ़ग्रंथिग्रथितासिधेनुना...। हर्षचरित, पृ0-9, बाण।

66-धौतदुकूल पट्टिका परिवेष्टित् मौलि-हर्षचरित।

67-वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार ये शरीर से ऐसे चिपक जाते थे जैसे पानी से भीगने से शरीर से सट गये हों। हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ0-101 ।

68-ताऽक्ड़वल्गनतरङ्गितगण्डलेख,

मानाभिलम्बिदरदोलित तारहारम्।

आश्रोणिगुल्फ परिमण्डलितान्तरीयं,

वेषं नमस्यत महोदय सुन्दरीणाम्।।-काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय, पृ0-20, राजशेखर।

69-हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0-75, वासुदेव शरण अग्रवाल।

70-कुटिलक्रमरूपक्रियमाणपल्लवपरभाग, हर्षचरित, बाण।

71-प्राचीन भारतीय वेषभूषा, पृ0-157, डा0 मोतीचन्द्र।

72-मुष्टिप्रकीर्यमाणकपूर पटवासपांसुला मनोरथ संचरणरश्या

इव यौवनस्य-हर्षचरित, बाण।

73-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग जिल्द-2, वाटर्स।

74-चाइनीज एकाउन्टस ऑफ इण्डिया जिल्द-2 पृ0-140, एस0 नील।

75-हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0-228, वासुदेव शरण अग्रवाल।

76-क्षिति पतिरप्युगतमुचितेन चैनमादरेणान्वग्रहीत् आसीनं च प्रप्तच्छ...।

77-गंगाप्रवाहह्लादगंभीरया गिरा स्वतिमशब्दमकरोत्।

78-क्रमेण च कांश्चिदभिवादयमानः कैश्चिदभिवार्धमान· कैश्चिच्छिरसि चुम्ब्यमानः कांश्चिन्मूर्ध्नि समाजिघ्रन... हर्षचरित, तृतीय उच्छ्वास, पृ0-38, बाण।

79-सुदूरप्रसारितेन.... दीर्धेण दोर्दण्डद्वयेन गृहीत्वा कठे ... वक्षसि

पुनः कंठ पुनः स्कन्धमोग पुनः कपोलोदरे निधान...। हर्षचरित, षष्ठ उच्छ्वास, पृ0-37-बाण।

80-अभिनन्दति हि स्नेहकातारापि कलीनता देशकालानुरूपम्।

देव्यपि यशोमती परिष्वज्य समाघ्राय च शिरसि निर्गत्य चरणभ्यामेव चान्तःपुरा....। हर्षचरित, पंचम उच्छ्वास, पृ0-31, बाण।

81-कादम्बरी, पृ0-108-9, बाणभट्ट।

82-जातमातृदेवता मार्जराननना बहुपुत्रपरिवारा सूतिकागृहे स्थाप्यते। -हर्षचरित की टीका, पृ0-185, उद्यृत-हर्षवर्द्धन पृ0-303, गौरी शंकर चटर्जी।

83-अधावंत मुक्तानि बंधनवृन्दानि-हर्षचरित-पृ0-185, बाणभट्ट।

84-लोकविलुण्ठिताः विपणिवीश्चयः-वही, पृ0-185 ।

85-वही, पृ0-186 ।

86-देवे चोत्मांगनिहितरक्षासर्षपकणे हाटकबद्धविकटव्याघ्रनरवपंक्तिमंडितग्रीवले- वही, पृ0-191।

87-प्रतिष्ठाप्यामाने इंद्राणीदैवतं- वही, पृ0-201 ।

88-सूत्रधारैरादीयमानविवाहवेदीसूत्रपांत-वही, पृ0-201 ।

89-निरूध्यमानयौतकयोग्यमातग्ड़तुरग्ड़तरग्ड़िताांगन-वही, पृ0-201 ।

90-हेमकारचक्रप्रकांतहाटकघटनटाक्ड़ार वाचलितालिन्दकम्-वही, पृ0-201 ।

91-चतुरचित्रकरचकवाललिख्यामानमग्ड़ललेख्यं। उद्धृत, हर्षवर्द्धन, पृ0-304, गौरीशंकर चटर्जी।

92-लेप्यकारकदम्बकक्रिप्तमणिमृन्मयमीनकूर्ममकरनारिकेलकदलीपूरावृक्षकम् ।

93-वधूवरगोत्रग्रहणगर्भाणि श्रुतिसुभगानि मंग्डलानि गायनतीभि-हर्षचरित, पृ0-202, बाणभट्ट।

94-चित्रपत्रलतालेख्यकुशलाभिः कलशांश्च धवलितान् शीतलशाराज्जिरश्रेणीश्च मणयन्तीभिः

वही, पृ0-202 ।

95-प्रविवेशच द्वारपक्षकलिखितरीतिप्रतिदैवतम्.... वास्ग्रहम्.... वही, पृ0-208 ।

96-एकदेशलिखितस्तवकितरक्ताशोकतरूतलभााजाधिज्यचापेन

तिर्यक्कूणितनेत्रत्रिभागने शरमृजूककुर्वत। कामदेवेनाधिष्ठितम्-वही, पृ0-208 ।

97-हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0-33-34, डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल।

98-व्यक्तिर्व्यंजनधातुना दशविधेनाश्यतत्र लब्धाऽमुना।

विस्पष्टोद्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लय.।

गोपुच्छाप्रमुत्वाः क्रमेण यतयास्तिस्त्रोऽपि सम्पादिता।

स्तत्त्वौधानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो।।दर्शिता ।। नागानंद, 1, 17, बाण।

99-हर्षचरित, पृ0-214, बाणभट्ट।

100-दरिवष्नटपद-शार्यक्षेषु शून्यगृहा (शारी-सोंगटी, अक्ष-पाश)-कादम्बरी, पृ0-13, बाणभट्ट।

101-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग-जिल्द-1, पृ0-174-75-वाटर्स।

102-नरेन्द्रः स्वयं समर्पितस्कंधैःगृहीत्वा शवशिविकां शिविसमः सामतै पौरे पुरोहित पुरस्सरैः नीत्वा सरितं सरस्वतीं नरपति समुचितायां चिताया हुताशसत्क्रियया यशः शेषतामनीयत-हर्षचरित, पृ0-235, बाणभट्ट।

103-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग, जिल्द-2, पृ0-142, रेकार्ड्स।

104-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग, जिल्द-2, पृ0-277, वाटर्स।

105-शौर्यसत्यव्रतधरो यः प्रयागगतो धने।

अम्भसीव करीषाग्नौ मग्नः स पुष्पपूजितः।। अफसढ़ लेख, 01

106-राजानां वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधने चेष्ट्वा

लब्ध्वाः चायुः शताब्दं दशदिन सहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः। 1.4 उत्तरार्द्ध।

107-यू0 पी0 हिस्ट्रोरिकल सोसाइटी, प्रो0 के0 सी0 चटटोपाध्याय।

108-वटमूलं समाश्रित्य यस्तु प्राणान्यपरित्यजेत्।

सर्वलोकानविक्रमय रूद्रलोकं स गच्छति।। कूर्मपुराण- 36, पृ0-346।

109-प्रयागवटशाखाग्रात पत्तनं च करोति यः।

महापापक्रियः स्वर्गे दिव्यान्भोगान्समश्नुते।। ब्रह्मपुराण, 28, 6 ।

110-जलप्रवेश यः कुर्यात् संगमें लोकविषुते।

राहुग्रस्तो यथा सोमों विमुक्तः सर्वपातकैः।। कूर्मपुराण, 36, पृ0-346 ।

111-विस्तार के लिए, स्टडीज इन एंशेंट इडियन हिस्ट्री एण्ड कल्वर, पृ0-229-32, यू0 एन0 राय।

112-सम्राट् हर्ष, पृ0-260-61, डा0 राम निहोर पाण्डेय।

113-वही, पृ0-261 ।

114-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग, जिल्द-2, पृ0-135-37, रेकार्ड्स।

115- वही, पृ0-137 ।

116-रेकार्ड्स ऑफ द बुद्धिस्ट रेलिजन, तककुसू, पृ0-165-80, इत्सिंग।

117-एजूकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ0-505, आर0 के00 मुकर्जी।

118-पदे, वाक्ये प्रमाणे, धर्मशास्त्रे, राजनीतिषु, व्यायामविद्यासु, चापचक्रचर्मकृपाणशक्तितोमरपर शगुदात्रभृतिषु सर्वेष्वायुधविशेषेणु, रथचर्याषु, गजपृष्ठेषु, वीणवेणुमुरजकास्यतालदर्दुरपुटप्रभृतिषु वाधेषु, भरतादिप्रणीतेषु नृत्यशास्त्रेषु, नारदीयप्रभृतिषु गान्धर्ववेदविशेषेषु, हस्तशिक्षायाम्, तुरंगवयोज्ञाने, पुरूषलक्षणे, चित्रकर्मणि पत्रच्छेधे, पुस्तकव्यापारे, लेख्यकर्मणि, सर्वासु द्यूतकलासु, शकुनिरूतज्ञाने, ग्रहगणिते, रत्नपरीक्षाणुषू, दारूकर्मणि, दन्तव्यापारे, वास्तविद्यासु, आयुर्वेदे, यंत्रप्रयोगे, विषापहणे, सुरंगोपभेदे......., इन्द्रजाले, कथासु, नाटकेषु, आख्यायिकासु, काव्येषु, महाभारतपुराणेतिहासरमयणेषु, सर्वलिपिषु,.... परं कौशलमवाप। -कादम्बरी,, पूर्व भागः पृ0-262-63, बाण।

119-दशकुमारचरित, प्रथमोच्छ्वास, पृ0-46-47, दण्डी।

120-निखधविधाविधोतितानि गुरूकुलानि च सेवमान..

पुनरपि तामेव वैपश्चिती मात्मवंशोचिंता प्रकृतिमभजत्-हर्षचरित, प्रथम

उच्छ्वास, पृ0-20, बाण।

121-संगीतशालेति लासकै... गुरूकुलमिति विद्याथीभिः,

गंधर्वनगरमिति गायनैः, विश्वकर्ममंदिरमिति, विज्ञानाभि .-हर्षचरित, तृतीय उच्छ्वास, पृ0-43-44, बाण।

122-वीतरागैरार्हतैर्मस्करिभिः श्वेतपटै· पाण्डुरभिक्षुभिर्भागवतैर्वर्णि ब्राभि केशलुंचनैः कापिर्लेजैनैर्लोकायतिकैः काणदैरौपानिषदैरैश्वकारणिकै· कारन्धमिभिधर्मशास्त्रभिः पौराणिकैः साप्ततान्तवैः शैवैः शाब्दैः पाचरात्रिकैरन्यैश्च स्वान्स्वान्सिद्धातांश्रृण्वदि् भरभियुकैश्चिन्तयदिभश्च प्रत्युच्चरदि्भश्च संशयानैश्च निश्चिन्वदि्भश्च व्यात्पादय दि्भश्च, विवदमानैश्चाभ्यासदि्भश्च....। हर्षचरित, अष्ठम् उच्छ्वास, पृ0-73, बाण।

123-प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ0-81, ए0 एस0 अल्टेकर।

124-वही, पृ0-72 ।

125-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग, जिल्द-2, पृ0-136-37, रेकार्ड्स।

126-लाइफ के अनुसार मतिपुर मे 10 संघाराम थे। लाइफ-पृ0-79 ।

127-वही, पृ0-81 ।

128-वही, पृ0-84 ।

129- वही, पृ0-127 ।

130-एशियण्ट जियोग्राफी ऑफ इंडिया, पृ0-46, कर्निघम।

131-सुमंगलविलासिनी, पृ0-1 35 ।

132-महावस्तु, जिल्द-3, पृ0-56 ।

133- हुएनसांग की भारत यात्रा, पृ0-316, लाइफ, पृ0-110 ।

134-हुएनसांग की भारत यात्रा, पृ0-316 ।

135-वही, पृ0-316-18 ।

136-जर्नल ऑफ द बिहार-उडीसा रिसर्च सोसाइटी, 1928, पृ0-1 तथा आगे फादर हेरास।

137-एजूकेशन इन एंशेण्ट इंडिया, पृ0-116, ए0 एस0 अल्टेकर, उद्धृत, उत्तर भारत में शिक्षा- व्यवस्था (600 से 1200 ई0) पृ0-84, गीता देवी।

138-कुछ विद्वानों ने इसे ही नालंदा माना है। बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग-1, पृ0-17, बील, उद्धृत उत्तर भारत में शिक्षा-व्यवस्था (600 से 1200 ई0) पृ0-84, गीतादेवी।

139-ईस्वी सन् 450 में नालंदा विश्वविद्यालय को राजकीय मान्यता प्राप्त थी। हिस्ट्री ऑफ इंडियन लॉजिक, पृ0-515, एस0 सी0 विद्याभूषण।

140-पृ0-112-13, लाइफ।

141-भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, पृ0-18, तारानाथ।

142-ट्रैवेल्स ऑफ हुएनसांग, जिल्द-1, पृ0-261, वाटर्स।

143- वही, पृ0-301 ।

144- वही, पृ0-314 ।

145- वही, पृ0-340 ।

146- वही-2 ,पृ0-242 ।

147-''उज्जयिनी वर्णनम्'' कादंबरी, पृ0-87, बाणभट्ट।

148-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग, जि0-2, पृ0-181, वाटर्स।

149-वही, पृ0-186 ।

150-वही, पृ0-193 ।

151-वही, पृ0-209 ।

152-वही, पृ0-214 ।

153-वही, पृ0-224 ।

154-वही, पृ0-226 ।

155-वही, पृ0-23 ।

156-काव्येषु नाटकं रम्यम्।

157-प्राचीन राजवंश और बौद्ध धर्म, पृ0-398, डा0 अच्युतानंद घिल्डियाल।

158-प्राचीन भारत, पृ0-218, डा0 आर0 सी0 मजूमदार।

159-न्याये वर्त्मनि योजिताः प्रकृत्यः सन्तः सुखं स्थापिता

नीतो बन्धुजनस्तथात्मसमतां राज्येऽपि रक्षा कृता ।

दत्तो दत्तमनोरथाधिकफलः कल्पद्रुमोऽप्यर्थिने

किं कर्तव्यमतः परं कथय वा यत् ते स्थितं चेतसि।। नागानंद नाटक, 1 अंक, 7 श्लोक-हर्षवर्द्धन।

160-स्पदते दक्षिणं चक्षुः फलाकांक्षा न मे क्वचित्।

न च मिथ्या मुनिवयः कथायिव्यति किं न्विदम्।।-नागानद नाटक, 1, अंक, 9-श्लोक, हर्षवर्द्धन।

161-यद् विद्या धरराजवंशतिलकः प्राज्ञः सतां सम्मतो

रूपेणाप्रतिमः पराक्रमधनो विद्वान् विनीतोयुवा।

यच्चासूनपि सन्त्यजेत् करूणया सत्वार्थमम्युधत

स्तेनास्मै ददतः स्वयारभतुला तुष्टिर्विषादश्च में ।।-नागानंद नाटक-2 अंक, 10-श्लोक, हर्षवर्द्धन।

162-अन्योन्यदर्शनकृतः समानरूपानुरागकुलवयसाम्।

केषांचिदेव मन्ये समागमो भवति पुण्यवताम्।।-नागानंद, 2-अंक, 14, श्लोक, हर्षवर्द्धन।

163- सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः।

शरीरकस्यापि कृते मूढा पापानि कुर्वते।।-नागानंद नाटक, 4-अक, 7-श्लोक-हर्षवर्द्धन।

164-अज्ञाननिद्राशयितो भवता प्रतिबोधितः।

सर्दप्राणिवधादेष विरतोऽध प्रभृत्यहम्।।-नागानंद नाटक-5-अंक, 26-श्लोक-हर्षवर्द्धन।

165-निजेन जीवितेनापि जगतामुपकारिणः।

परितुष्टाऽस्मि ते वत्स। जीव जीमूतवाहन।।-नागानंद नाटक,5-अंक, 34-श्लोक, हर्षवर्द्धन।

166-श्रीहीरःसुषवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी चयम्। -नैषधचरित।

167-श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी

लोकेहारि च बोधिसत्वचरित नाटये च दक्षा वयम्।-नागानंद नाटक, 1-अंक, 3-श्लोक-हर्षवर्द्धन।

168-काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये।

सधः परनिवृतये कान्ता सम्मिततयोपदेश युजे।-काव्यप्रकाश, प्रथम उच्छ्वास, 2-श्लोक-मम्मट।

169-अतिगम्भीरे भूपे कूप इव जनस्य निरवतारस्य।

दधति समीहितसिद्धिं गुणवन्तः पार्थिवा घटका॥-हर्षचरित द्वितीय उच्छ्वास, 1-श्लोक-बाणभट्ट।

170-अहोप्रभावों वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः।

श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समौ वाणमयूरयोः॥-राजशेखर।

चतुर्थ अध्याय

वर्द्धन-वंश कालीन धर्म

चतुर्थ अध्याय

वर्द्धन-वंश कालीन धर्म

सृष्टि के प्रारंभ से ही मानव जीवन का धर्म से घनिष्ट सबंध रहा है। भारतीय समाज में पुरूषार्थ चतुष्ट्य में धर्म को शाश्वत नियम मानकर प्रथम स्थान में निर्धारित किया गया है। धर्म वह धारणा है जिसको धारण करने से मुनष्य में मानवीय सहानुभूति का उन्नयन होता है। महाभारत के शातिपर्व में धर्म को इस प्रकार परिभाषित किया गया है:- "धर्म का नाम इसलिए धर्म पडा है कि वह सब को धारण करता है, धर्म ने सारी प्रजा को धारण किया हुआ है। अतः जिससे धारण, पोषण हो उसे धर्म कहते हैं। ऐसा धर्म वेत्ताओं का विचार है।"[1]

नैतिक आधार और सदाचारी की भावनाओं की समुन्नति एवं मानवता की सुरक्षा के लिए संसार में धर्म की सत्ता को सर्वोपरि माना गया है। महाभारत के शांतिपर्व में उसे और भी स्पष्ट करते हुए इस प्रकार उल्लेख किया गया है:- "जिससे प्राणियो की हिंसा न हो, इसके लिए ही धर्म का उपदेश किया गया है। अतः जो अहिसा से युक्त है, वही धर्म है, ऐसा धार्मिक लोगों का निश्चय है।"[2]

वास्तव में धर्म ही मनुष्य में दया, करूणा, उदारता, उपकार, समता, सहानुभूति, सहयोग और अहिंसा के विचारों का उदय करता है। धर्म कभी भी किसी को अधर्म करना नहीं सिखाता है। इसीलिए विश्व भर के लोग अपने अभ्युदय के लिए धर्म का आश्रय लेते है। वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार कणाद ने धर्म का लक्षण इस प्रकार निधार्रित किया है:- "इस लोक और परलोक मे अभ्युदय देने वाले साधन को 'धर्म' माना गया है। अभ्युदय का अर्थ सांसारिक या भौतिक विकास है और निःश्रेयस का अर्थ मोक्ष है।"[3] महाभारत के अनुशासन पर्व और जैन धर्म का आधारभूत सिद्धांत यही है:- "अहिंसा ही परम धर्म है।"[4] मनु ने मानव के जीवन में नैतिक मूल्यों की सुरक्षा पर सबसे अधिक ध्यान देते हुए आचार को ही परम धर्म माना है।[5]

वेद वाक्यों के रहस्यों को स्पष्ट करने वाले प्राचीन भारतीय स्मृतिकारों ने धर्म का सही स्वरूप मानवता की रक्षा के लिए मानव जाति के आचरण को इस प्रकार स्पष्ट किया है।" अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, दान, दम, दया और शांति ये धर्म के साधन है।"[6] मनु ने अपनी मनुस्मृति में मानव जाति के कल्याण के लिए याज्ञवल्क्य के समान ही धर्म का सही स्वरूप इस तरह दिखाया है:- "धैर्य, क्षमा, दम, दया, चोरी न करना, शौच (पवित्रता), इन्द्रिय निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोध न करना ये ही दस लक्षण हैं।"[7] मानव कल्याणकारी विचारो के उन्नयन में शांतिपर्व में धर्म का वास्तविक महत्व इस प्रकार स्पष्ट किया गया है। "प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए धर्म का प्रवचन किया गया है। जो अभ्युदय और कल्याण को देने वाला है, वह धर्म है, ऐसा निश्चय है।"[8]

मानव मात्र के कल्याण करने वाले नियमों को धर्म माना गया है क्योंकि साधारण नियमों और इनमें बहुत अंतर है। साधारण नियमों में इतनी पवित्रता, निष्ठा, इहलोक और परलोक की चिंता नहीं होती है किन्तु धर्म के भाव आते ही पवित्रतादि भावनाएँ जाग्रत हो जाती हैं। धर्म को धर्म इसीलिए कहते है कि वह सभी की रक्षा करता है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने धर्म की भिन्न-भिन्न रूप में परिभाषा बताएँ हैं। किंतु उद्देश्य सभी का मानवमात्र के विचारों को आचारशास्त्र द्वारा शुद्ध करना है और मानव में उदार भाव का उन्नयन करना है। वास्तत में धर्म मनुष्य को मानवता की शिक्षा देता है। धर्म स्वार्थ से परमार्थ की ओर लगाकर आध्यत्मिक जगत् की ओर ले जाता है। धर्म संकुचित और सीमित अर्थों में प्रयुक्त नहीं होता है। धर्म मनुष्य मे सहिष्णुता, आध्यात्मिक ज्ञान, त्याग और परोपकार के विचारो की वृद्धि करता है।

महामहोपाध्याय डा0 पाण्डुरग वामन काणे ने अपने धर्म शास्त्र के इतिहास में धर्म के विषय में इस प्रकार स्पष्ट किया है:- "प्राचीन काल में धर्म संबंधी धारणा बड़ी ही व्यापक थी और वह मनुष्य के संपूर्ण जीवन को स्पर्श करती थी। धर्मशास्त्र कारों के मतानुसार 'धर्म' किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नही है। प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचार संहिता है जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्यों के कर्मो को व्यवस्थित

करता है तथा उसमें क्रमशः विकास करता हुआ मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचाने के योग्य बनाता है।"[9] मानव के जीवन को सुव्यवस्थिति रखने और समुन्नत करने में धर्म का महत्वपूर्ण योगदान है क्योंकि लोकयात्रा का निर्वाह अर्थात् संसार में सुख से रहने के लिए धर्म की मर्यादा स्थापित की गई है।[10] सुख का मूल धर्म को माना गया है।

सच्चे धर्म का लक्षण अभय है जो अपनी अभिव्यक्ति, सामंजस्य तथा संतुलन के रूप में करता है, जो शरीर और आत्मा तथा कर्म और बुद्धि के मध्य पूर्ण समझौते के रूप में एवं अहिंसा या प्रेम के रूप में प्रकट होता है। अभय और अहिंसा ज्ञान एवं सहानुभूति तथा स्वतंत्रता, प्रेम ये प्रायः धर्म के ही सैद्धान्तिक और व्यवहारिक रूप है। धर्म का प्रारंभ हमारे जीवन में तब होता है जब हम यह जान जाते हैं कि हमारा जीवन केवल हमारे लिए ही नहीं है।"[11]

सभ्यता के प्रांरभ से ही भारत धर्म के क्षेत्र में सहिष्णुता की नीति का अनुयायी रहा है। धर्म के प्रचार के लिए यूरोप तथा एशिया की भांति भारत मे न तो रक्त की नदियाँ बहाई गईं और न ही मानव को मानव से धर्म के आधार पर घृणा करना ही सिखाया गया। भारत मे धर्म व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु तथा सार्वजनिक कल्याण का साधन माना गया है। व्यक्ति जिस धर्म के द्वारा अपने जीवन को सुखी बना सके तथा चरित्र का उत्थान कर सके, उसके पालन तथा प्रचार करने का उसे पूर्ण अधिकार रहा है। इन्ही परंपराओं के परिणामस्वरूप ही भारत विभिन्न धर्मों की उपस्थिति के उपरांत भी एक राष्ट्र बना रहा।[12]

भारत की इस धार्मिक सहिष्णुता की नीति का एक महत्वपूर्ण कारण भी है। एक धर्म की उपस्थिति में दूसरे धर्म का उत्थान भारत में एक नवीन धर्म के रूप में कभी नहीं हुआ। भारत मे नवीन धर्मों के निर्माण का कारण धर्मों के दोषों को दूर करना था और साथ ही समय की आवश्यकता के अनुसार आवश्यक परिवर्तनों का समावेश कर धर्म को प्रगतिशीलता प्रदान करता था। समाज में सदैव ही दो प्रकार के व्यक्तियों का बाहुल्य रहा है-प्रथम, प्रगतिशील-जो समयानुकूल परिवर्तनों को आवश्यक मानकर उन्हें स्वीकार करना जीवन के लिए हितकर मानते हैं, और द्वितीय, रूढ़िवादी-जो परिवर्तनों

को स्वीकार न कर धर्म के प्रारंभिक रूप को ही महत्व देते है। दृष्टिकोणों की यह भिन्नता ही भारत में विभिन्न धर्मों के अस्तित्व का महत्वपूर्ण कारण रही है। किंतु यह दृष्टिकोणों की भिन्नता ही एक ही सत्य पर आधारित थी। सबका उद्देश्य एक था। भिन्नता थी केवल उस एक उद्देश्य की प्राप्ति के साधनों मे। साधन भिन्न होने से उनके सिद्धान्तो मे भी अंतर था किंतु, उनमे प्रस्तुत आध्यात्मिक समानता तथा सांस्कृतिक एकता के कारण उनकी सैद्धान्तिक विभिन्नता केवल बाह्य विभिन्नता ही रही और आंतरिक क्षेत्र में यह कभी कटुता का रूप धारण न कर सकी। प्राचीन भारतीय इतिहास में यदि धार्मिक कटुता के कहीं दर्शन भी होते हैं तो वह केवल व्यक्तिगत थी, उसे सामाजिक स्तर पर भारत कभी भी स्वीकार नहीं कर सका।

वर्द्धन-वंश के शासनकालीन भारत की धार्मिक दशा के संबध में हमें जितना विस्तृत ज्ञान प्राप्त हो जाता है उतना सामान्यतः अन्य कालो के संबंध में प्राप्त नहीं होता। इस काल की धार्मिक दशा का ज्ञान हमें तत्कालीन लेखों के अतिरिक्त बाण तथा हुएनसांग के उल्लेखों से प्राप्त हो जाता है। बाण ने बौद्ध भिक्षु दिवाकरमित्र के आश्रम में विभिन्न धर्मानुयायियों की उपस्थिति का उल्लेख किया है। बाण के अनुसार दिवाकरमित्र के आश्रम में निम्न सम्प्रदायों के अनुयायी तत्वचिंतन में भाग ले रहे थे-[13] अर्हत (जैन साधु), मस्करी (भाग्य या नियतिवादी साधु), श्वेतपट(श्वेत वस्त्र धारण करने वाले जैन सम्प्रदाय के अनुयायी), पाण्डुरिभिक्षु(आजीवन साधु इस काल मे पाण्डुरिभिक्षु कहलाते थे), भागवत वर्णी[14] (आजीवन अविवाहित रहकर विद्याध्ययन करने वाले साधु) । ये साधु अपने व्रत के सूचक जटा, आजिन, बल्कल, मेखला, दंड अक्षवलय आदि चिन्ह धारण करते थे। भारवि ने इसी कारण इन साधुओं के लिए वर्णिलिंगी पद का प्रयोग किया है। कादबरी में भी जटा, कृष्णजिन, बल्कल आषाढ़दण्ड धारण करने वाले तपस्यिों को वर्णी कहा है।) केशलुंचन(केशों को नोच डालने वाले जैन साधु), कपित (कपित मतानुयायी), जैन (बुद्धमतानुयायियो के लिए भी इस काल में जैन पद का प्रयोग होता था, बुद्ध के लिये भी इस काल में जिननाथ विशेषण प्रायः प्रयकुत होता था[15] बौध धर्म के भारत से लुप्त हो जाने के उपरांत ही जैन पद केवल महावीर स्वामी के अनुयायियों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा), लोकायतिक (चर्वाक), कणाद (वैशेषिक), औपनिषद

(उपनिषद या वेदान्त दर्शन के ब्राह्म वादी दार्शनिक), ऐश्वरकारणिक (नैयायिक-ईश्वर को जगत् का निमित कारण मानने वाले), कारन्धर्मा (धातुवादी), धर्मशास्त्री (मन्वादि स्मृतियों के अनुयायी), पौराणिक, साप्ततन्तव (ऋग्वेद में यज्ञ के लिए सप्ततान्व विशेषण प्रयुक्त हुआ है। महाभारत में भी यज्ञ को सप्ततन्तु कहा गया है। सप्ततन्तव वेद को ब्राह्मणग्रंथों पर आश्रित कर्मकाण्ड का आधार या मूलश्रोत मानते थे), शब्द (व्याकरणदर्शन व शब्द ब्रह्म के अनुयायी,, स्वयं पाणिनि शब्द विद्या का ब्रत लेकर हिमालय में तप करने गये थे), पांचरात्रिक (पंचरात्र संज्ञक प्राचीन वैष्णव मत के अनुयायी)।

बाण द्वारा प्रस्तुत इस सूची में पाशुपत मतानुयायियों का उल्लेख नहीं है। बाण ने अन्यत्र हर्ष चरित में इनका विस्तृत उल्लेख किया है। भैरवाचार्य के वर्णन में बाण ने शिव के अनन्य भक्त पाशुपत भैरवाचार्य तथा उसके शिष्य को मस्करी [16] कहा है। बाण के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में शैव अथवा पाशुपत मतानुयायियों को मस्करी भिक्षु कहा जाता था। बौद्धभिक्षु दिवाकरमित्र के आश्रम में शिष्य के रूप में उपस्थित उपर्युक्त सम्प्रदायों के अनुयायियों की बाण द्वारा प्रस्तुत सूची जहाँ देश मे विभिन्न संम्प्रदायों के अस्तित्व की परिचायक है, वहीं यह भी प्रमाणित करने में समर्थ है कि भारत के विभिन्न सम्प्रदायों में सैद्धान्तिक रूप से सूक्ष्म अंतर होते हुए भी इनमें विद्वेष की भावना न थी। सभी सम्प्रदाय अपने आध्यत्मिक विकास के लिये प्रयत्नशील रहते थे और इस प्रयास में अपने से भिन्न धर्मानुयायी से भी ज्ञान प्राप्त करने मे संकोच नहीं करते थे। इन निष्कर्षों की पुष्टि हुएनसांग द्वारा प्रस्तुत विवरणों से भी हो जाती है। हुएनसांग ने भारत को ब्राह्मणो का देश कहा है। चीनी यात्री के अनुसार ब्राह्मणों का समाज में अत्यधिक मान था और वे चरित्रवान होते थे। ब्राह्मण धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त था। विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी पृथक-पृथक चिन्ह धारण करते थे। कुछ मयूर पंख धारण करते थे, कुछ मुण्डमाला पहनते थे। कुछ नग्न रहते थे तथा कुछ घास लपेटे रहते थे। इनके वस्त्रों के रंग भी भिन्न-भिन्न होते थे। हुएनसांग ने इन साधुओं की मुक्तकण्ठ प्रशंसा की है। उनके अनुसार इन्हें विद्याध्ययन में बड़ी रूचि थी और नय प्राचीन ग्रंथों के पंडित होते थे। सांसारिक जीवन से दूर इन साधुओं को प्रशंसा अथवा निंदा की लेशमात्र भी चिंता न होती थी। ये

लोग सत्य की खोज में पर्यटन किया करते थे और भिक्षा मांग कर भोजन करते थे। समस्त समाज इनका मान करता था। राजा लोग भी इन्हे अपनी राजसभा में आने के लिए बाध्य नहीं कर सकते थे।

भारत में ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के साथ ही बौद्ध धर्म का भी महत्वपूर्ण स्थान था। हुएनसांग के अनुसार बौद्ध धर्म में हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय के अनुयायी एक ही स्थान पर रहते थे। कहीं कहीं तो दोनों एक ही मठ में निवास करते थे। हुएनसांग ने बौद्ध मठों मे ब्राह्मण साधुओं को भी रहते देखा था और बौद्ध केन्द्रों में देव मंदिरों के भी दर्शन किए थे। हुएनसांग द्वारा प्रस्तुत विवरणो के आधार पर यह निश्चयात्मक रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि देश में विभिन्न सम्प्रदायों के होते हुए भी पारस्परिक कटुता का नाम न था। यद्यपि देश में धार्मिक सिद्धांतों संबंधी दार्शनिक स्तर पर विभिन्न धर्मानुयायियों के मध्य बहुधा वाद-विवाद हुआ करते थे और इन अवसरों पर कटुता भी अपने अस्तित्व से प्रतिस्पर्धी दलों को प्रभावित कर देती थी, किंतु यह कटुता वाद-विवाद के उपरांत ही समाप्त हो जाती थी। हिंसा की शक्तियाँ विरोधी दर्शन का नाश करने के लिए सामान्यतः क्रियाशील नही हो पाती थी। हुएनसांग द्वारा प्रस्तुत विवरणों से ऐसे अनेक आयोजनों का परिचय प्राप्त हो जाता है जिनमें विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों ने अपने तर्कों द्वारा अपने धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का प्रयास किया था। चीनी यात्री के विवरणानुसार लोकात्य सम्प्रदाय के एक अनुयायी ने नालंदा में उन अत्यधिक कठिन प्रश्नों पर वाद-विवाद करने की घोषणा की जिन पर उस समय नालंदा विश्वविद्यालय के आचार्य विचार-विमर्श में संलग्न थे। उसने संक्षेप में अपने विचारों को चालीस धाराओं में लेखनीबद्ध कर विश्वविद्यालय के प्रवेश द्वारों पर टंगवा दिया और यह भी घोषणा की, कि जो भी व्यक्ति उसकी एक भी धारा का खण्डन कर सकेगा वह अपनी विजय के परिणामस्वरूप उसका सिर काट लेने का अधिकारी होगा। हुएनसांग ने उसके घोषणापत्र को मंगवाकर पढ़ा और उसे फाड़कर पैरों से कुचल डाला। उसने उस ब्राह्मण से वाद-विवाद करने की घोषणा की। ब्राह्मण ने हुएनसांग द्वारा अपना विरोध किया जाना सुनकर वाद-विवाद से विमुख होना चाहा, किंतु हुएनसांग ने उसे

शीलभद्र तथा नालंदा के अन्य प्रमुख भिक्षुओं की उपस्थिति में वाद-विवाद के लिए विवश कर दिया और इस प्रकार उसने ब्राह्मण के विचारो का खण्डन कर डाला तथा उसे अपनी पराजय स्वीकार करनी पडी। उसने अपनी घोषणानुसार अपना सिर हुएनसांग को समर्पित कर दिया, किंतु उसने उसका सिर काटने के स्थान पर उसे अपनी सेवा में रखना ही धर्मानुकूल माना।[17] ब्राह्मण ने विजेता की सेवा में रहना स्वीकार कर लिया। कुछ समय उपरांत उसने ब्राह्मण को पूर्णतया मुक्त कर दिया।

हुएनसांग ने ऐसी ही एक अन्य घटना का और भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार जब हर्ष उड़ीसा में था, उस समय हीनयान सम्प्रदाय के कुछ अनुयायियों ने उससे महायान सम्प्रदाय के प्रतीक नालदा विश्वविद्यालय के प्रति उसके द्वारा किये गए उपकार कार्यों का विरोध किया और उन्होंने अपने सिद्धान्तो को पुस्तक के रूप में उसे समर्पित किया। इस पुस्तक में उन्होंने अपने विचारों की व्याख्या की थी। उन्होंने महायान सम्प्रदाय के अनुयायियों को अपने विचारों का खण्डन करने के लिए भी ललकारा। हर्ष ने उनकी ललकार सुनकर कहा "मैने सुना है कि एक लोमडी ने स्वयं को चूहों तथा चुहियों के मध्य पाकर यह गर्व किया कि वह शेर से भी अधिक शक्तिवान है, किंतु शेर को देखते ही उसका ह्रदय बैठ गया और वह पलक मारते ही लापता हो गई। आदरणीय विद्वानों! तुमने अभी तक महायान सम्प्रदाय के प्रमुख भिक्षुओं को नहीं देखा है और इसी कारण तुम इतनी घृष्टता से अपनी मूर्खतापूर्ण धारणाओं का समर्थन कर रहे हो। मुझे अत्यधिक भय है कि तुम उन्हें देखते ही लोमडी के समान बन जाओगे।" हीनयान मतानुयायियों ने यह सुनकर कहा "यदि आपको हमारी श्रेष्ठता में विश्वास नहीं है तो आप दोनों ही सम्प्रदायों के अनुयायियों को सत्य का निर्णय करने के लिए एकत्र कर लीजिए।" हर्ष ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और नालंदा विश्वविद्यालय के कुलपति शीलभद्र को हीनयान मतानुयायियों से वाद-विवाद के लिए चार भिक्षु भेजने को लिख भेजा।[18]

उपर्युक्त घटनाओं से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि हर्षकालीन भारत में धार्मिक वाद-विवादों का अत्यधिक प्रचलन था। धर्म के क्षेत्र में लोगों

को अपनी श्रद्धानुसार धर्म के पालन की पूर्ण स्वतंत्रता थी। शासक चाहे जिस धर्म का पालन करने वाला क्यों न हो, वह प्रजा के विश्वासों तथा धर्म के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करता था। यदि शासक अपने धर्म को प्रजा पर थोपने का प्रयास करता उस दशा में हीनयान मतानुयायियो को हर्ष से महायान सम्प्रदाय की आलोचना कर वाद-विवाद के लिए ललकारने का साहस न होता। हर्ष द्वारा हीनयान मतानुयायी को वाद-विवाद के लिए बुला भेजना भी इस सत्य का प्रदर्शन करने के लिए समर्थ है कि भारत कें धार्मिक सहिष्णुता किस सीमा तक विद्यमान थी। भारत में विभिन्न सम्प्रदायों के होते हुए भी धार्मिक कटुता नहीं थी,, इस सत्य की पुष्टि भारत में बिखरे उन स्मृति चिन्हों से भी हो जाती है जिनका निर्माण विभिन्न धर्मानुयायियों ने धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन करने के लिए कराया था। समय के साथ साम्राज्यों का उत्थान, पतन हुआ। प्राचीन विख्यात नगर खंडहरों में परिणत हो गये, उनकी दीवारें चूर-चूर हो गयीं। उनके स्थान पर नवीन नगरों का निर्माण हुआ। साम्राज्यों के शासक के रूप में भी विभिन्न धर्मानुयायी शासकों ने अपने अस्तित्व से इतिहास के पन्ने रंग डाले। अपने उत्कर्ष के लिए इन शासकों ने अपने समकालीन शासकों की राजनीतिक सत्ता भी धूल-धूसरित कर डाली। किंतु इतिहास की इन क्षण-क्षण परिवर्तन होने वाली घटनाओं का भारतीय धार्मिक जीवन पर कोई प्रभाव न पड़ा। समाज द्वारा निर्मित धार्मिक स्मृति चिन्ह ज्यो के त्यो खड़े रहे। उन्हें नष्ट करने का कभी प्रयास न किया गया। यदि त्याज्य नगरों में इन चिन्हों की अवहेलना के परिणामस्वरूप ये चिन्ह अस्त-व्यस्त हो गये थे, तो नवीन निर्मित नगरों मे ऐसे ही अन्य सहस्त्रों चिन्ह अपने अस्तित्व से समाज की धार्मिक भावनाओं का प्रदर्शन करने लगे थे। भारत की इस धार्मिक भावना के परिणामस्वरूप ही हुएनसांग महात्मा बुद्ध तथा उनके शिष्यों के चिन्ह एवं अन्य प्राचीन स्तूपों आदि के दर्शन कर सका था। हुएनसांग को अपनी संपूर्ण यात्रा में कर्ण-सुवर्ण के शासक शशांक के अतिरिक्त अन्य ऐसे किसी शासक का परिचय न प्राप्त हो सका जिसने धर्म के नाम पर अत्याचार किये हों। हुएनसांग के अनुसार शशांक ने बौद्ध धर्म तथा बोधिसत्व का नाश किया था। चीनी यात्री को सर्वत्र धार्मिक सहिष्णुता के ही दर्शन हुए थे। भारत की धर्म के क्षेत्र में वह भावना इस सत्य की परिचायक है कि धर्म भारत में

व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु के साथ समाज को मानवीय स्तर पर देवत्व का रूप प्रदान करने का साधन था।

बाण तथा हुएनसांग के विवरणों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वर्द्धन वंश शासन कालीन उत्तरी भारत में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे और प्रत्येक के समर्थक भी पर्याप्त संख्या मे देश में विद्यमान थे। किंतु इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता है कि समाज में प्रत्येक सम्प्रदाय का समान सम्मान था। सम्मान की दृष्टि से शैव, भागवत तथा बौद्ध सम्प्रदायों का ही समाज में विशेष स्थान था। शैव तथा भागवत सम्प्रदाय हिन्दु अथवा ब्राह्मण धर्म के अंग थे।

महात्मा बुद्ध द्वारा बौद्ध धर्म की स्थापना के उपरांत हर्ष के समय तक सांस्कृतिक स्तर पर उत्तर भारत का इतिहास बौद्ध धर्म के उत्थान और पतन का इतिहास है, किंतु इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता है कि इस संपूर्ण काल में ब्राह्मण धर्म का अस्तित्व ही शेष न रहा था। अशोक के शासन काल मे भी जब बौद्ध धर्म को राजधर्म बनने का अवसर प्राप्त हो गया था और जब लगभग सपूर्ण भारत बौद्ध धर्म के रंग में रंग गया था उस काल में भी ब्राह्मण धर्म का अस्तित्व न मिट सका था। वह पतनोन्मुख होकर भी अपने पुनरूत्थान की सबल सासें ले रहा था। गुप्त साम्राज्य के उत्थान से पूर्व तक तो बौद्ध धर्म अपने अस्तित्व की प्रभुता भारतीय रंगमंच पर बनाये रखने में सफल रहा, किंतु गुप्त साम्राज्य की स्थापना के उपरांत राजकीय संरक्षता के अभाव तथा ब्राह्मण धर्म की बलवती करवटों ने बौद्ध धर्म की प्रभुता को नियंत्रित कर दिया। अब ब्राह्मण धर्म भी भारतीय रंगमंच पर बौद्ध धर्म के समान समाज को प्रभावित करने लगा। समय के साथ-साथ यह प्रभाव इतना शक्तिशाली हो गया कि गुप्तकाल के अंत तक ब्राह्मण धर्म उत्तरी भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण धर्म बन गया। ब्राह्मण धर्म की यह प्रभुता फिर कभी नष्ट न की जा सकी। हर्ष के शासनकाल में भी ब्राह्मण धर्म ही देश का प्रमुख धर्म था, इस सत्य का परिचय हुएनसांग द्वारा भारत को एक ब्राह्मण देश कहने से ही प्राप्त हो जाता है।

भारतीय इतिहास के इस संपूर्ण काल में जब ब्राह्मण धर्म अपने पुनरूत्थान तथा अस्तित्व की दृढ़ता के लिए सफल प्रयासों में संलग्न था, वह

अपने प्रारंभिक रूप को बनाये रखने में असफल रहा। प्रथम तो उसे बौद्ध धर्म से टक्कर लेने के लिए अपने रूप में पर्याप्त परिवर्तन करने ही पडे थे और द्वितीय समय तथा मानव की आवश्यकताओं एवं भावनाओं के साथ भी उसके रूप तथा क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते चले गये। ब्राह्मण धर्म ने तत्कालीन अन्य धर्मों को अपने में विलीन करने के प्रयास में उनके विश्वासों तथा सिद्धांतों को भी अपना लिया। परिणामस्वरूप विभिन्न विश्वासों एवं सिद्धांतों के समावेश से ब्राह्मण धर्म में भी अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ और शनै· शनैः ब्राह्मण धर्म इन सम्प्रदायों के रूप में ही विलीन हो गया। ब्रह्मण धर्म का इतिहास इन विभिन्न सम्प्रदायों का इतिहास बन गया। वर्द्धन-वंश कालीन उत्तरी भारत ब्राह्मण धर्म के जिन सम्प्रदायों से प्रभावित था वे शैव तथा भागवत सम्प्रदाय थे।

वर्द्धन-वंश शासन कालीन भारत में, विशेषकर स्थाण्वीश्वर के क्षेत्र में शैव मत का अत्यधिक प्रचलन था। घर-घर शिव की पूजा की जाती थी,।[19] शिव की मूर्ति को दूध से स्नान कराया जाता था तथा पूजा में बिल्वपल्लव चढ़ाये जाते थे।[20] शिवपूजा के अन्य साधनो में स्वर्ण-स्नपन-कलश, अर्घपात्र, धूप,-पात्र, पुष्पपट, यष्टिप्रदीप, ब्रह्मसूत्र तथा शिवलिंग पर चढाये जाने वाले मुखकोश प्रधान थे।[21] बाण ने शिव की पूजा के संबंध में अन्य भी महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। उनके अनुसार शिवभक्त असुर-विवर-प्रवेश, महामांसविक्रय तथा सिर पर गुग्गुल जलाने की क्रियाओ द्वारा शिव की अराधना करते थे।[22]

असुर-विवर-प्रवेश क्रिया द्वारा भूमि में बने गहरे गढढे में उतरा जाता था। बाण ने स्वयं 'पातालांधकारावांस' के उल्लेख द्वारा इस क्रिया को स्पष्ट कर दिया है। संभवतः साधक के गढढ़े में उतर जाने के उपरांत गढढा बद कर दिया जाता था। इस क्रिया का उद्‌देश्य क्या था, बाण के विवरण से स्पष्ट नहीं होता। संभवतः "यह कोई वीभत्स तांत्रिक प्रयोग था" और "बेताल साधन इसका मुख्य अंग था।"[23]

महामांस-विक्रय भी एक अत्यधिक वीभत्स तथा भीषण क्रिया थी। इस क्रिया में श्मशान से प्राप्त शव मांस फेरी लगाकर विक्रय किया जाता था। बाण

के अनुसार महामांस-विक्रय से प्राप्त धन से इस क्रिया के करने वाले मंहगा मैनसिल नामक पदार्थ क्रय करते थे। केवल मैनसिल नामक पदार्थ का क्रय करने के लिए ही इस वीभत्स क्रिया का किया जाना इस क्रिया का उद्‌देश्य स्पष्ट नहीं करता। यदि महामांस-विक्रय का केवल यही उद्‌देश्य था, उस दशा में प्रभाकरवर्द्धन की बीमारी के समय राजकुमारों का खुलेआम महामांस-विक्रय की तैयारी करना [24] निरर्थक प्रतीत होता है। संभवतः इस क्रिया द्वारा भूत-पिचाश एवं वेतालों को प्रसन्न करने का प्रयास किया जाता था। भारतीय परम्पराओं में इन्हें शिव के गणों के रूप में माना गया है। संभवतः इस क्रिया के दो उद्‌देश्य थेः-प्रथम, भूत-पिचाश आदि शिव के गणों को प्रसन्न करना तथा द्वितीय, इस क्रिया द्वारा प्राप्त धन से मैनसिल नामक पदार्थ क्रय करना।[25] निश्चय ही मैनसिल नामक पदार्थ का भी ऐसी ही किसी भीषण क्रिया के संपन्न करने में प्रयोग किया जाता होगा।

सिर पर गुग्गुल जलाना क्रिया द्वारा शैव साधक शिव को प्रसन्न करने के लिए गुग्गुल की बत्ती सिर पर जलाते थे। बत्ती के जलने से खाल और मांस जलकर हड्डी तक दिखने लगती थी। बाण ने प्रभाकरवर्द्धन की बीमारी के अवसर पर भी नवसेवक द्वारा यह क्रिया किये जाने का उल्लेख किया है। बाण के अनुसार नवसेवक यह क्रिया महाकाल को प्रसन्न करने के लिये कर रहे थे और साथ ही पीडा से छटपटा रहे थे।[26]

वर्द्धन वंश कालीन उत्तर भारत में शिव के तीन नेत्रों की कल्पना के साथ ही शिव पत्नी पार्वती की जन-साधारण की उपासना का दृढ़ केन्द्र बन चुकी थी। रत्नावली नाटिका के प्रारंभ में शिव तथा पार्वती की पूजा से इस सत्य की पुष्टि हो जाती है।[27]

शिव तथा पार्वती की पूजा वैसे तो भारतीय इतिहास के प्रारंभिक काल में ही विद्यमान थी किंतु शिव ने सार्वजनिक स्तर पर एक प्रमुख देवता के रूप में कब भारतीय समाज में प्रवेश किया, कहना कठिन है। इतना तो निश्चित है कि सिंधु घाटी संस्कृति की प्रतीक अनार्य जाति के पूज्य देवता शिव की अराधना उत्तर वैदिक काल में आर्य जाति के धर्म का अंग बन चुका था और

गुप्त काल तक आते-आते शिव सार्वजनिक रूप से एक प्रमुख देवता के रूप में पूजे जाने लगे थे। कालिदास द्वारा रघुवंश के प्रारभ में शिव की उपासना इस सत्य का प्रमाण है। गुप्तकाल से भी पूर्व कुषाण शासकों के समय में ही शिव भारतीय धार्मिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग बन चुके थे। इस काल में कुषाण वंशीय शासक विम कैडफिसज ने शिव को अपना अराध्य देव स्वीकार कर महेश्वर की उपाधि धारण की थी। उसने अपने सिक्कों पर भी शिव, नन्दी तथा त्रिशूल अंकित किये थे। इसी काल में एकमुखी, चतुर्मुखी तथा पंचमुखी शिवलिंग भी बनने प्रारंभ हो गये थे। किंतु कुषाण वंशीय शासक कनिष्क द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने और उसका प्रचार करने के कारण संभवतः शिव की उपासना का क्षेत्र सीमित रहा। इस सीमित क्षेत्र को सार्वजनिक स्तर पर व्यापक रूप धारण करने का अवसर गुप्तकाल में शासकों की धार्मिक सहिष्णुता की नीति के परिणामस्वरूप प्राप्त हो सका। इस काल में एकमुखी शिवलिग का निर्माण और उसकी अराधना सामन्यतः प्रचलित हो गई थी। गुप्तकाल के उपरांत हर्ष के समय तक शैव मतानुयायियों की सख्या में जहाँ पर्याप्त वृद्धि हुई और शिव की पूजा घर-घर होने लगी, वहीं ऐसा प्रतीत होता है कि शैव मतानुयायियों में भी अनेक उप-सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे। यह अवश्य है कि हर्ष के समय तक लिंगपुराण तथा वामन पुराण मे वर्णित शैव, पाशुपत मत की वैदिक, तांत्रिक, मिश्र, कालामुख तथा कपाली नामक शाखाओं के पृथक-पृथक अस्तित्व का निर्माण नहीं हुआ था[28] (क्योंकि बाण ने केवल शैव पाशुपतों का ही उल्लेख किया है)। किंतु यह स्वीकार करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं किया जा सकता कि इन शाखाओ के निर्माण की आधार-भूमि इस काल में निर्मित हो रही थी। श्रीकर भाष्य में पाशुपत की शाखाओं वैदिक-तांत्रिक तथा मिश्र के उल्लेख के साथ उनकी विशेषताओं को भी स्पष्ट कर दिया गया है।[29] तांत्रिक पाशुपत लिंग से तप्त चिन्ह और शूल धारण करते थे, वैदिक पाशुपत लिंग, रूद्राक्ष और भस्म धारण करते थे तथा मिश्र पाशुपत समान भाव से पंचदेवों [30] की उपासना करते थे। कपाली वाममार्गी थे। मद्यपान तथा विहार को ही ये लोग मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते थे।

बाण तथा हर्ष की नाटको में प्रस्तुत शिव संबंधी प्रार्थनाओं के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि देवालयों में वैदिक परम्परानुसार शिवलिंग की उपासना करने वाले ही बाद को वैदिक तथा मिश्र शाखाओं मे विभक्त हो गये। जो लोग केवल शिव को अराध्य मानत रहे और वैदिक परम्परानुसार उनकी उपासना करते रहे, वे वैदिक कहलाये और जो शिव के साथ अन्य देवताओं की भी अराधना करने लगे वे मिश्र कहलाये। जो शैव मतानुयायी असुर-विवर प्रवेश, महामांस विक्रय आदि क्रियाओं द्वारा शिव की अराधना करते थे, वे बाद में संभवतः तांत्रिक तथा कापालिक शाखाओं में विभक्त हुए। संभवतः गृहस्थो में तांत्रिक तथा कापालिक शाखाओं का प्रचार न था। गृहस्थ सामान्यतः वैदिक तथा मिश्र शाखाओं के ही अनुयायी थे। बाण ने शैव मतानुयायी के रूप में भैरवाचार्य का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसे एक सामान्य शैवाचार्य का चित्र न मानकर निश्चयात्मक रूप से तांत्रिक शास्त्र के शैवाचार्य का सर्वाधिक भीषण चित्र मानना चाहिए। इस चित्र की भयंकरता उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है जहाँ बाण ने भैरवाचार्य का शमशान में काली पगड़ी,, काला अंगराग, काली राखी और काले वस्त्र पहिने हुए, लाल चंदन, लाल माला और लाल वस्त्र से अलंकृत शव की छाती पर बैठकर उसके मुख में अग्नि जलाकर काले तिलों की उसमें आहुती देते हुए[31] वर्णन किया है।

बाण ने शैव संहिता[32] का भी उल्लेख किया है। बाण के इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल तक शिव की चरित्र सबधी गाथाएँ निर्मित हो चुकी थीं और शिव की उपासना के लिए उनका अध्ययन शैवमत का अंग बन चुका था और शिव के संबंध में दक्षयज्ञ बिनाश तथा पार्वती की तपस्या आदि कथाएँ भी,, जिनका परिचय रत्नावली की प्रारंभिक शिव-प्रार्थना से प्राप्त हो जाता है, इस समय तक शिव के जीवन के साथ जुड़ चुकी थीं। शिव के उपासक जीवमात्र को पशु कहते है, शिव ने ही इस जगत का निर्माण किया है, इस धारणा पर ही शैवमतानुयायी शिव को पशुपति कहते हैं।

वर्द्धन वंश शासन कालीन भारत में शैवमतानुयायियों के समान ही भागवत सम्प्रदाय के अनुयायियों का भी समाज में महत्वपूर्ण स्थान था।

भागवत सम्प्रदाय विष्णु की उपासना पर आधारित है और इसी कारण इसे वैष्णव सम्प्रदाय भी कहा जाता है। भारतीय धार्मिक जीवन में विष्णु ने कब प्रवेश किया निश्चित करना कठिन है। वैदिक काल में एक देवता के रूप में विष्णु का अस्तित्व तो अवश्य था, किंतु वे सूर्य के एक स्वरूपमात्र छोटे देवता के रूप में ही पूजे जाते थे। उत्तर वैदिक काल में उनका महत्व बढ गया था। शिव तथा प्रजापति के साथ विष्णु भी एक प्रमुख देवता स्वीकार कर लिये गये थे। वे अब प्रधान यज्ञ-पुरूष माने जाने लगे थे। ई0 पू0 चौथी शताब्दी में ग्रीक दूत मेगस्थनीज ने मथुरा के समीप शूरसेनों द्वारा वासुदेव[33] की पूजा किये जाने का उल्लेख किया गया है। पाणिनि ने भी अपने सूत्रों में वासुदेव के नाम का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों से यह प्रमाणित हो जाता है कि कम से कम ई0 पू0 छठी शताब्दी में वासुदेव की पूजा के रूप में भागवत धर्म का प्रचुर प्रचार हो चुका था।

उत्तर वैदिक काल के उपरांत प्रथम शताब्दी ई0 पू0 तक विष्णु की उपासना व्यापक रूप धारण कर चुकी थी। इस काल में वैदिक कर्मकाण्ड के साथ वैदिक परम्परा का वैष्णव धर्म विकसित हो रहा था। वैष्णव धर्म की इस काल में व्यापकता तथा विष्णु की लोकप्रियता बेसनगर मे स्थित गरूड़स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख[34] से सहज ही प्रमाणित हो जाती है। यह स्तम्भ यवन शासक अंतलिसिदास के दूत हेलियदोरस ने विष्णु के प्रति अपनी असीम श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए निर्मित कराया था। हेलियदोरस ने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था। एक विदेशी द्वारा वैष्णव धर्म का अपनाया जाना यह प्रमाणित करने में पूर्ण समर्थ है कि तत्कालीन भारत में वैष्णव धर्म एक अत्यधिक लोकप्रिय तथा महत्वपूर्ण धर्म का रूप धारण कर चुका था।

आंध्र-सातवाहन शासकों के समय में बौद्ध धर्म के विरूद्ध जो वैदिक प्रतिक्रिया प्रारंभ हुयी और उसमें वैदिक धर्म के पुनर्स्थापना में जो योग आन्ध्र -सातवाहन शासकों ने प्रदान किया, उसके परिणामस्वरूप वैष्णव धर्म में जहाँ परिवर्तन हुए वहीं उसकी लोकप्रियता भी बढ़ गई। वैदिक धर्म का पुनरूत्थान अपने पूर्व रूप में संभव न था, इस कारण वैष्णव धर्म जो ईश्वर को मानव रूप में देखता और मनुष्य के नैतिक आचरण पर अधिक जोर देता था लोकप्रिय

बनता जा रहा था। इस काल के उत्कीर्ण लेखों में विष्णु के अतिरिक्त वासुदेव, संकर्षण आदि देवताओं के नाम भी पाये जाते हैं। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि इस काल तक वैष्णव धर्म का देवमंडल विष्णु तक ही सीमित न रह गया था, वरन् उसमें अन्य देवताओं का समावेश भी चुका था। धीरे-धीरे वैष्णव धर्म भक्ति मार्ग का दृढ़ रूप धारण करता जा रहा था।

गुप्तकाल तक आते-आते विष्णु भारतीय धार्मिक जीवन के एक प्रमुख देवता बन चुके थे। गुप्तवंश के अनेक सम्राट् भागवत धर्म के पक्के अनुयायी थे। विष्णु की उपासना का प्रचार बहुत व्यापक था। गुप्त-संवत् 209 (528-29 ई0) के महाराज संक्षोभ के कोट वाले ताम्रदानपत्र में न केवल भागवत शब्द का प्रयोग किया गया है प्रत्युत्त उसमें उस धर्म का प्रसिद्ध मत्र "ओम नमो भगवते वासुदेवाय" भी उद्धृत है।[35] भीटा की मुहर नं0 21 में भी यह मंत्र अंकित मिलता है। भीटा की खुदायी से जो मुहरें प्राप्त हुयीं हैं उन पर लक्ष्मी,, हाथी,, शंख तथा चक्र के वैष्णव धर्म सूचक चिन्ह अंकित है।[36] इस प्रकार इस काल में विष्णु के मंदिरों का निर्माण व्यापक रूप से आरंभ हो चुका था और उसकी उपासना भक्ति मार्ग की प्रमुख आकर्षण बन चुकी थी। गुप्त काल में वैष्णव धर्म की विशेष प्रगति हुयी। गुप्त शासक वैष्णव धर्मानुयायी थे। उनके लेखों में उत्कीर्ण उनकी परमभागवत की उपाधि[37] तथा सिक्कों पर अंकित विष्णु के वाहन गरूड़ तथा उनकी स्त्री लक्ष्मी के चित्र एवम् उनकी सत्ता का गरूडोध्वज इस सत्य का प्रमाण है। भारतीय इतिहास के इस स्वर्णिम काल में अशोक कालीन सिहध्वज का स्थान गरूड़ध्वज ने प्राप्त कर लिया। लगभग समस्त देश में श्री विष्णु, उनके विभिन्न रूपों तक वैष्णव देवमण्डल के देवताओं के मंदिरों का निर्माण तथा उनकी उपासना सार्वजनिक रूप से प्रारभ हो गयी। विष्णु के दस अवतारों की कल्पना तो गुप्तकाल से बहुत पूर्व ही हो चुकी थी। संभवतः यह कल्पना महात्मा बुद्ध से पूर्व ही धर्म में स्थान प्राप्त कर चुकी थी क्योंकि "नारायणी उपाख्यान" में जिन दस अवतारों के नाम दिए हैं उनमें प्रथम अवतार हंस है और दसवां कल्कि। इसमें बुद्ध का नाम नहीं है। अन्य उल्लेखों में अवश्य दस अवतारों में बुद्ध का नाम आता है। संभवतः बुद्ध का नाम वैष्णव धर्म की लोकिप्रियता बढ़ाने और बौद्ध धर्मानुयायियों को भी इस धर्म में स्थान देने के लिए बाद को जोड़ दिया गया था। गुप्तकाल में

विष्णु के दस अवतारों में समाज का विश्वास पूर्णतया दृढ़ हो चुका था और इन समस्त अवतारों का प्रदर्शन करने वाले मदिरों का निर्माण प्रारंभ हो गया था। गुप्तकालीन देवगढ़ का दशावतार मंदिर मूल सत्य का प्रमाण है। इस काल मे विष्णु के वाराह अवतार और उनकी अर्धांगिनी लक्ष्मी की पूजा विशेष रूप से प्रचलित हुयी। विष्णु की वाराह अवतार संबंधी जो गुप्तकालीन मूर्तियॉ उपलबध हुई हैं उनमें एक तो मनुष्य के आकार की है, केवल मुख वाराह का है और दूसरी पूर्ण वाराह के आकार की मिलती है। इन मूर्तियो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकाल मे वाराह अवतार की पूजा दो रूपों में होती थी-प्रथम, मनुष्य के रूप में और द्वितीय वाराह के रूप में।

विष्णु की अर्धांगिनी लक्ष्मी तथा क्षीरसागर में शेष-शैय्या पर विष्णु के शयन करने की कल्पना ने, जिसके अस्तित्व का परिचय, भोपाल में स्थित उदयगिरि पर लक्ष्मीयुक्त विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति तथा शेषशायी भगवान की विशाल मूर्ति के रूप में सुरक्षित है, कब धर्म में प्रवेश किया, कहना कठिन है। संभवतः यह कल्पना भारतीय जीवन की आर्थिक समृद्धि से संबंधित है। भारतीय परम्पराओं में लक्ष्मी समृद्धि की प्रतीक हैं और शेष काल का परिचायक। गुप्त काल से पूर्व ही भारतीय व्यापार समुद्र द्वारा प्रारंभ हो चुका था। इस व्यापार ने गुप्तकाल में और भी प्रगति की थी। समुद्र द्वारा व्यापार ने भारत को सोने-चांदी से पूर्ण एक समृद्धिशाली देश बना दिया था। भारत की इस समृद्धि ने समुद्र के महत्व को इतना बढा दिया कि समुद्र में ही शेषनाग रूपी काल की शैया पर शयन करने वाले (मृत्यु(काल) जिनके अधिकार में है) विष्णु की अर्धांगिनी के रूप में समृद्धि की प्रतीक लक्ष्मी की कल्पना कर डाली गयी। तत्कालीन परिस्थितियों में समुद्र की यात्रा का तात्पर्य था मृत्यु का आंलिंगन करना, किंतु समृद्धि के लिए यह यात्रा आवश्यक थी। इस आवश्यकता से संबंधित भय का निवारण भी यात्रा के प्रति प्रोत्साहन देने के लिए आवश्यक था। विष्णु उस काल के सर्वाधिक पूज्यनीय देवता थे। विष्णु की उपासना से समस्त भय दूर हो जाते हैं, ऐसा समाज का विश्वास था। मृत्यु पर भी विष्णु का अधिकार है, जहाँ इस विश्वास ने शेषनाग रूपी काल को विष्णु की शैया का रूप प्रदान कर दिया था, वहीं लक्ष्मी को अर्धांगिनी के रूप में विष्णु की सर्वाधिक प्रिय वस्तु मानकर समाज ने लक्ष्मी की उपासना

द्वारा समृद्धि के साथ विष्णु की प्रसन्नता के परिणामस्वरूप मृत्यु से (समुद्र की यात्रा संबंधी भयावह आपदाओं) रक्षा का धार्मिक साधन भी खोज निकाला था। क्षीर सागर की कल्पना भी भारतीय जीवन के व्यावहारिक स्तर से संबंधित है। क्षीर (दूध) के शरीर संबंधी पौष्टिक तत्वों का महत्व तो सर्वविदित है ही। शारीरिक स्वास्थ्य संबंधी महत्व के कारण क्षीर के सागर की कल्पना और उसमें शेषशायी विष्णु के साथ लक्ष्मी का निवास भी कल्पना का स्वाभाविक अंग बन जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त कालीन वैष्णव धर्म मे नैतिक तथा आध्यात्मिक स्तर पर भक्ति मार्ग संबंधी विभिन्न धारणाओ और उनके साथ नवीन देवी-देवताओं का अस्तित्व ही दृढ नहीं हो रहा था, वरन् उसमें समाज के व्यावहारिक जीवन संबंधी आर्थिक आधारों का भी समावेश होता जा रहा था।

वैष्णव सम्प्रदाय की यह प्रगति गुप्तकाल के उपरांत भी भारतीय जीवन को प्रभावित करती रही। बौद्ध धर्म के पतन के साथ उसका क्षेत्र निरंतर व्यपक बनता गया और भारत बौद्ध देश के स्थान पर हुएनसांग के शब्दों में 'ब्राह्मण देश' के नाम से विख्यात हो गया। भागवत धर्म की प्रगति के इस संपूर्ण काल में धार्मिक स्तर पर भी उसमें पर्याप्त परिवर्तन हुए। उसकी अनेक शाखाएँ फैलीं। प्रत्येक शाखा ने अपने सिद्धांतों को औचित्य प्रदान करने के लिए दूसरे के सिद्धांतों की आलोचना कर उसका बहिष्कार किया। यह सघर्ष विशेष रूप से वैष्णव संप्रदाय के पंचरात्र वैखानस रूपों मे चला। पंचरात्र मत का प्रसिद्ध और विशिष्ट मत चतुर्व्यूह सिद्धांत है। इस मत के अनुयायी पंचरात्र या पांचरात्रिक कहलाते थे। ये वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध के रूप में चतुर्व्यूह को मानते थे। वैखानस मतानुयायी विष्णु और उनके चार सहयोगी अच्युत, सत्य, पुरूष और अनिरूद्ध की उपासना करते थे। शकराचार्य ने पांचरात्र मत कर खंडन किया था। रामानुजाचार्य ने इसके विरूद्ध पंचरात्र मत का समर्थन किया था। उनके प्रयास से ही दक्षिण भारत के बहुत से मंदिरों से वैखानस संहिताओं का व्यवहार उठ गया था और उनके स्थान पर पंचरात्र संहिताओं का प्रचलन हुआ था। पंचरात्र मत के विरूद्ध वैखानस मत की लोकप्रियता का कारण उसकी वह नीति थी जिसमें उसने जहाँ एक ओर पंचरात्र मत की व्यूह पूजा को स्वीकार किया था, वहीं दूसरी ओर वैदिक यज्ञो

को भी अपने पूजा-पाठ में उन्होने नये ढग से सम्मिलित कर लिया था। वैखानस धर्म ने गृहस्थ धर्म को भी प्रतिष्ठा दी थी। इसमें गृहस्थाश्रम के उपरांत भिक्षु बनने का मार्ग भी खुला था, किंतु स्त्री का परित्याग करके नहीं,, बल्कि उसे साथ लेकर बानप्रस्थ-आश्रम मे शमधर्म का पालन करते हुए। वशिष्ठ और जनक के जीवन वैखानस मतानुयायियों के आदर्श थे। इस मत का गुप्तकाल में अत्यधिक प्रचार हुआ। पंचरात्र-मत वैखानस से पूर्व का अत्यधिक व्यापक मत था। इसके मतानुयायियो में भी कुछ धार्मिक विश्वास संबंधी विभिन्नताएँ थीं, जो व्यक्ति चतुर्व्यूह के स्थान पर केवल वासुदेव की अराधना करते थे, वे एकान्तिन कहलाते थे। एकान्तियों में भी नारद पंचरात्र के अनुसार दो भेद थे-शुद्ध, जो केवल वासुदेव को ही ईश्वर मानकर उनकी पूजा करते थे (वासुदेवैकयाजिन) और दूसरे मिश्र, जो विष्णु के अतिरिक्त और भी विष्णु रूपधारी देवताओं (जैसे-शिव, इन्द्र, ब्रह्म, पार्वती,, सरस्वती,, ब्रह्मणी,, इन्द्राणी आदि) को मानते थे।[39]

पंचरात्र तथा वैखानस के अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदायो में सात्वत मतानुयायियों का एक पृथक वर्ग था। सात्वत मतानुयायी विष्णु की नारायण के रूप में उपासना करते थे। उनमे विष्णु के नृसिंह तथा वाराह अवतार की विशेष मान्यता थी। गुप्तकालीन नृसिंह तथा वाराह अवतार संबधी विष्णु की मूर्तियाँ सात्वत परम्परा में ही ज्ञात होती है।

वर्द्धन वश कालीन उत्तर भारत मे बाण ने केवल भागवत पंचरात्र मतानुयायियों का विशेष उल्लेख किया है। सभवतः हर्ष के समय तक वैष्णव धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय एक में मिलते गये थे और ये दो ही मोटे भेद शेष रह गये थे। आगे चलकर वह मोटा भेद भी समाप्त हो गया और समस्त मतानुयायी भागवत धर्मानुयायी के रूप में शेष रह गये।

शैव तथा भागवत सम्प्रदायों के देश मे व्यापक प्रचार तथा विदेशो में भारत के ब्राह्मण देश के रूप में विख्यात होने से यह अभिप्राय नहीं निकाला जा सकता है कि वर्द्धन वंश कालीन उत्तर भारत में बौद्ध धर्म का कोई प्रभाव शेष न रहा था। हुएनसांग का वर्णन इस सत्य का प्रमाण है कि बौद्ध संघ का

महत्वपूर्ण स्थान था और उसके अनुयायियों की संख्या भी पर्याप्त थी। जहाँ एक ओर प्राचीन स्तूप तथा विहार अपने अतीत के गौरव पर आंसू बहा रहे थे, वहीं नव विकसित सभ्यता के केन्द्रों में उनका निर्माण भी हो रहा था और यह निर्माण बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण अस्तित्व का पूर्ण परिचायक है। स्वयं हुएनसाग की भारत यात्रा भी भारत में बौद्ध धर्म के अस्तित्व ही नहीं वरन् उसके महत्वपूर्ण स्थान को प्रमाणित कर देती है। हुएनसांग की भारत यात्रा का उद्देश्य आंनद के लिए भ्रमण करना न था यदि उसका उद्देश्य केवल भ्रमण ही होता, उस दशा में वह अकेला जनशून्य स्थलों को पार करता, कल्पना से परे उँचे पहाड़ों को पार कर वहाँ की भयंकर ठण्डी हवाओं तथा प्राकृतिक बर्फ का सामना करता[40] भारत न आता। उसकी भारत यात्रा का उद्देश्य जहाँ एक ओर बौद्ध तीर्थ स्थानों के दर्शन करना था, वहीं दूसरी ओर नालंदा विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के रूप में बौद्ध धर्म का अध्ययन करना भी था। उसका यह दूसरा उद्देश्य उस प्रार्थना से प्रमाणित हो जाता है जो उसने नालंदा विश्वविद्यालय के कुलपति से की थी। उसने कहा था "मुझे एक आज्ञाकारी तथा पूर्ण अनुरक्त शिष्य के रूप में स्वीकार कर अपनी शिक्षा तथा ज्ञान द्वारा मुझे पूर्ण आनंद की प्राप्ति का अवसर प्रदान कर अनुग्रहीत करें।"[41] उसके प्रथम उद्देश्य का प्रमाण भी स्वयं उसके द्वारा वर्णित वे स्थल है जिनके दर्शन उसने भारत में किये थे। भारत से विदा लेते समय हुएनसांग जो वस्तुएँ अपने साथ ले गया उनके अध्ययन से भी उसकी यात्रा का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। यात्री अपने साथ बुद्ध, धातुओं के 150 अंश, सुवर्ण, चांदी,, हाथीदात आदि की बहुत सी मूर्तियाँ और 657 हस्तलिखित ग्रंथ बीस घोडो की पीठ पर लादकर चीन ले गया। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि हुएनसांग की भारत यात्रा बौद्ध धर्म से सबंधित थी और भारत में उसकी यात्रा के समय बौद्ध धर्म का पर्याप्त मान तथा प्रचार भी था। हुएनसांग की यात्रा के समय नांलंदा बौद्ध धर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र था। बाण ने विन्ध्याटवी के प्रसंग में बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र के आश्रम का विशद वर्णन किया है। बाण के इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिवाकरमित्र का आश्रम बौद्ध धर्म संबंधी शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। देश में बौद्ध धर्म का प्रर्याप्त प्रभाव होना उन वाद-विवाद संबंधी आयोजनों से भी हो जाता है जो देश के विभिन्न भागों में बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय के अनुयायियों के मध्य तथा

बौद्ध धर्मानुयायियों एवं अन्य धर्मानुयायियों के मध्य हुआ करते थे। हर्ष द्वारा आयोजित कान्यकुब्ज सम्मेलन एक ऐसा ही सम्मेलन था। हुएनसांग द्वारा प्रस्तुत विवरणों से इन आयोजनों की पुष्टि हो जाती है।

वर्द्धन वंश शासन कालीन उत्तर भारत में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार अवश्य था, किंतु इसमें वह शक्ति न थी जिसने उसे भारत का सर्वाधिक व्यापक धर्म बना दिया था। भारत का सर्वाधिक व्यापक धर्म बनने का अवसर बौद्ध धर्म को केवल अशोक के शासनकाल में ही प्राप्त हो सका था। अशोक के शासन काल में राजकीय संरक्षण प्राप्त करने के उपरांत भी बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म को समूल उखाड़ फेकने में असमर्थ रहा था। अशोक के उपरात राजकीय संरक्षण के अभाव तथा ब्राह्मण धर्म में समयानुकूल हो जाने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरूप ब्राह्मण धर्म का प्रचार पुनः प्रारंभ हो गया था। बौद्ध धर्म के आंतरिक झगड़े जिन्हें अशोक बौद्ध धर्म की तीसरी सभा के आयोजन द्वारा किसी सीमा तक समाप्त करने में सफल हुआ था, पुनः प्रारंभ हो गये थे। इन झगड़ों के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म विभिन्न सम्प्रदायो में विभक्त हो गया। बौद्ध धर्म की इस फूट से भी उसके अस्तित्व को बडा धक्का लगा और उसका पतन प्रारंभ हो गया। अशोक के समान कनिष्क ने भी बौद्ध धर्म के पतन को रोकने के लिए उसके आंतरिक संघर्षों को नष्ट करने का प्रयास किया। इस अभिप्राय से उसने अश्वघोष के गुरू वसुमित्र की अध्यक्षता में कश्मीर में कुण्डलवन नामक स्थान पर बौद्ध धर्म की चौथी सभा का आयोजन किया। यह सभा बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का एकीकरण करने में असफल रही। इस असफलता के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म में विभिन्न सम्प्रदाय दृढ़ होते चले गये और उनमें अपने अस्तित्व तथा प्रगति के लिए होने वाले भयंकर संघर्षों के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म निर्बल होकर पतनोन्मुख होता चला गया। इत्सिंग[42] के अनुसार बौद्ध धर्म 18 सम्प्रदायों में विभक्त था। ये 18 सम्प्रदाय हीनयान तथा महायान मुख्य विभागों के उपविभाग थे। हीनयान सम्प्रदाय की जिन शाखाओं का समाज में विशेष स्थान था, वे थीं- वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक। महायान सम्प्रदाय के दर्शन का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रमुख शाखाओं में योगाचार तथा माध्यमिक नामक शाखाओं का विशेष स्थान था।

हुएनसांग ने भी अपने यात्रा वर्णन में हीनयान तथा महायान नामक बौद्ध धर्म के दो सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। हीनयान तथा महायान सम्प्रदायों की पारस्परिक भिन्नता के संबंध में इत्सिंग का मत महत्वपूर्ण है। इत्सिंग के अनुसार हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी चार महान सत्यों[43] के चिंतन तथा ध्यान को ही निर्वाण का केवल साधन मानते है। महायान सम्प्रदाय के अनुसार इच्छा, अज्ञानता तथा आवागमन से छुटकारा प्राप्त करने के लिए शील का आचरण तथा समस्त बुद्धों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इत्सिंग अपने समय में बौद्ध धर्म की अवस्था का वर्णन करते हुआ लिखता है "तथाकथित महायान के केवल दो भेद हैं-माध्यमिक और योगाचार। माध्यमिक दल का मत है कि साधारणतः जिसे हम अस्तित्व कहते हैं वह वास्तव मे अस्तित्व का आभाव है, प्रत्येक वस्तु स्वप्न की भांति केवल मिथ्या है। इसके विपरीत, दूसरे दल का कथन है कि वास्तव में बाहर कोई वस्तु नही है, सब ज्ञान मात्र है, सब वस्तुओं का अस्तित्व हमारे मन ही में है।"[44] महायान सम्प्रदाय इस प्रकार वैदिक धर्म के भक्तिमार्ग के अधिक निकट प्रतीत होता है। वास्तव में वैदिक धर्म का भक्तिमार्ग ही महायान सम्प्रदाय का जन्मदाता माना जाना चाहिए। समाज पर भक्तिमार्ग के माध्यम से हिंदु धर्म के बढते हुए प्रभाव को देखकर ही बौद्ध धर्मानुयायियो ने भी इस प्रथा को धर्म मे स्थान दिया था। इस प्रथा के अनुयायी महात्मा बुद्ध के वचनों एवं सिद्धांतों के साथ उनके व्यक्तित्व में भी पूर्ण निष्ठा रखने लगे। उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ भी इन भिक्षुओं के अध्ययन की महत्वपूर्ण सामग्री बन गयीं। महात्मा बुद्ध के जीवन के प्रति निष्ठा ने उनकी मूर्ति पूजा को प्रोत्साहन दिया। प्रारंभ मे तो यह प्रोतसाहन साकार रूप धारण न कर सका। बुद्ध को ईश्वर का रूप मानकर उनकी मूर्तिपूजा करने को उत्सुक भिक्षु यद्यपि पर्याप्त संख्या मे थे, फिर भी इस प्रारभिक काल में उनमें वह शक्ति न थी जो बहुसंख्यक बुद्ध के वचनों मे विश्वास करने वाले बौद्ध धर्मानुयायियों का सफल विरोध कर सकती। परिणामस्वरूप बुद्ध की मूर्तिपूजा तो प्रारंभ न हो सकी,, किंतु संकेतों के रूप में बुद्ध की पूजा ने अवश्य धर्म में स्थान प्राप्त कर लिया। अशोक के स्तंभों पर अंकित हाथी,, वृष, अश्व तथा सिंह के चिन्ह इस सत्य के प्रमाण हैं। हाथी,, माया के उस स्वप्न का परिचायक है जिसमें बोधिसत्व ने स्वतः हाथी के रूप में उसके गर्भ में प्रवेश किया था। वृष, महात्मा बुद्ध की वृष राशि का

परिचायक है। अश्व, उस महान घटना का परिचायक है, जब बुद्ध ने कण्ठक नामक अश्व पर आरूढ़ हो गृह का त्याग कर दिया था। सिंह, बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए शाक्य सिह के रूप मे महात्मा बुद्ध के महान अस्तित्व का प्रतीक है। अशोक के शासन में प्रारंभ होने वाली यह परम्परा धीरे-धीरे दृढ होती गयी और गुप्तकाल तक आते-आते महात्मा बुद्ध की मूर्तियों के साथ, बोधिसत्व तथा अवलोकितेश्वरों की मूर्तियाँ निर्मित होने लगी थीं। इन मूर्तियों की स्थापना मंदिरों में की जाती थी। इनकी पूजा के संबंध में भी नियमों का निर्माण हो गया था। महात्मा बुद्ध की ईश्वर के रूप में पूजा की परम्परा ने बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के साथ उसके अनुयायियों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि कर दी।

हुएनसांग ने मगध में एक ऐसे विशेष महायान विहार का उल्लेख किया है जिसमें मठ के मध्य 30 फिट उँची बुद्ध की पत्थर की मूर्ति स्थापित थी। इस मूर्ति के दायें हाथ में अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की मूर्ति थी और बायें हाथ में तारा बोधिसत्व की मूर्ति। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध की मूर्ति को भी वैदिक मूर्तियो के समान अलकृत करने की प्रथा प्रचलित थी।

वर्द्धनवंश काल तक आते-आते महात्मा बुद्ध की पूजा के साथ उनके विख्यात अनुयायियों की भी पूजा प्रारंभ हो गयी थी। हुएनसांग का विवरण इस सत्य का प्रमाण है। यात्री के अनुसार बौद्ध धर्मानुयायी राहुल, आनंद, उपालि, मोग्गल्लान, सारिपुत्र, पूर्णमैत्रायनीपुत्र तथा मजुश्री आदि बुद्ध के शिष्यों की पूजा करते थे। यात्री ने मथुरा में इनकी धातुओं पर निर्मित स्तूपों को स्वयं देखा था। उसके अनुसार प्रतिवर्ष बौद्ध भिक्षु अत्यधिक संख्या में एकत्र होकर अपनी उपासना के केन्द्र शिष्य के स्तूप की पूजा करते थे। अभिधर्म के अनुयायी सारिपुत्र तथा ध्यान में विश्वास करने वाले मोग्गल्लान के स्तूप की पूजा करते थे। सूत्रों के समर्थक पूर्णमैत्रायनीपुत्र तथा विनय का अनुशीलन करने वाले उपालि की पूजा करते थे। भिक्षुणी विशेष रूप से आनंद की पूजा करती थी। वे भिक्षु जो समस्त बौद्ध अनुशासनों में दक्षता प्राप्त न कर पाते थे, राहुल की पूजा करते थे,[45] हुएनसांग स्वयं मैत्रेय बोधिसत्व का उपासक प्रतीत

होता है। यात्री के जीवन की अनेक घटनायें इस धारणा की पुष्टि कर देती हैं। यात्री को नाव द्वारा गंगा पार करते समय जब डाकुओं ने पकड़ कर बलि देने के लिये वेदी पर डाल दिया था, उस समय उसने बुद्ध के स्थान पर मैत्रेय की प्रार्थना की थी और उसी को अपनी मुक्ति का कारण माना था। अपने जीवन के अंतिम समय में भी वह मैत्रेय बोधिसत्व की ही प्रार्थना करता है। उसकी केवल यही इच्छा रहती है कि वह तुषिता नामक लोक में मृत्यु के उपरांत मैत्रेय के परिवार का सदस्य बन जाये। अंत में अपनी मृत्यु के अवसर पर वह अपने शिष्यों से यह कहकर अपार संतोष का अनुभव करता है कि उसकी मैत्रेय की सभा में जन्म लेने की इच्छा पूर्ण हो गई है।

हुएनसांग द्वारा प्रस्तुत इन विवरणों के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि बौद्ध धर्म में भी वैदिक धर्म के समान ही अनेकों देवताओं का दृढ़ अस्तित्व था और प्रत्येक देवता की उपासना करने वालों की संख्या भी पर्याप्त थी। यात्री के विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म की महायान शाखा में देवताओं के रूप में बुद्ध, उनके अवतारों तथा शिष्यों आदि की पूजा की परम्परा ने उसे वैदिक धर्म के भक्तिमार्ग के निकट खडा कर दिया था। वर्द्धन वंश कालीन भारत में इस महायान सम्प्रदाय का ही अधिक प्रचार था। चीनी यात्री स्वयं भी महायान शाखा का ही अनुयायी था। कान्यकुबज धर्म सम्मेलन के अवसर पर उसने महायान सम्प्रदाय का ही समर्थन किया था। किंतु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि इस काल में हीनयान सम्प्रदाय का अस्तित्व नाममात्र को ही था। यात्री के अनुसार देश में महायान के समान हीनयान सम्प्रदाय के भी पर्याप्त अनुयायी थे।

कपिसा, कपिलवस्तु, वाराणसी,, हिरणपर्वत, चंपा, मालवा, वलभी,, वैशाली,, गुजरात तथा सिंधु में विशेषरूप से हीनयान सम्प्रदाय के केन्द्र थे। यद्यपि यहाँ भी महायान सम्प्रदाय ही विजयी हो रहा था।[46] पुण्ड्रवर्धन, महाराष्ट्र, अयोध्या, तथा मथुरा आदि में भी यात्री के अनुसार दोनों ही सम्प्रदायों के अनुयायी रहते थे।[47] यात्री के अनुसार दोनों ही सम्प्रदायों के अनुयायियों में बहुधा वाद-विवाद हुआ करते थे और ऐसे अवसरों पर दोनों ही पक्ष एक दूसरे को परास्त करने की भरसक चेष्टा करते थे, किंतु इस चेष्ठा से

उत्पन्न कटुता वाद-विवाद के साथ ही समाप्त हो जातीा थी। इसका प्रभाव उनके जीवन को दूषित न करता था। यह अवश्य है कि दैनिक जीवन में दोनों सम्प्रदायों के अनुयायी परस्पर न मिलते थे। यहाँ तक कि एक दूसरे के विहारों में जाना भी उन्हें रूचिकर न था। हुएनसांग के जीवन की एक घटना से इस सत्य की पुष्टि हो जाती है। यात्री ने कपिसा की राजनगरी में जब महायान सम्प्रदाय के विहार में रूकना चाहा, उस समय उसके एक साथी ने जो हीनयान सम्प्रदाय का अनुयायी था, उस विहार में ठहरने से अनिच्छा सी दिखाई। अपने साथी के संतोष के लिए यात्री ने स्वयं हीनयान सम्प्रदाय के एक विहार में ठहरने का निश्चय किया और उसे साकार रूप भी प्रदान किया।[48] एक दूसरे के विहारों में जाकर ठहरने में भी जिस अनिच्छा के दर्शन इस घटना से होते हैं, उसका कारण इन दोनों सम्प्रदायों के मध्य कटुता को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यात्री ने अनेक स्थलों पर सम्प्रदाय परिवर्तन की सरल संभावना तथा परंपरा का भी उल्लेख किया है। यात्री के अनुसार गांधर निवासी वसुबन्धु जो महायान सम्प्रदाय का एक महानतम विद्वान था पहले हीनयान सम्प्रदाय का अनुयायी था। यात्री ने मतिपुर की राजनगरी के फाटक पर गुणप्रभ नामक एक बौद्ध विद्वान के स्तूप को भी देखा था जिसने महायान-सिद्धांतों के अध्ययन के उपरांत हीनयान सम्प्रदाय को अपना लिया था।[49] यात्री ने दोनों ही सम्प्रदाय के सिद्धांतों को बौद्ध धर्मानुयायियो द्वारा अध्ययन किये जाने का भी उल्लेख किया है। संभवत. एक दूसरे के विहारों में दोनों के अनुयायियो द्वारा न ठहरने का कारण दोनों के दैनिक जीवन संबंधी नियमों की भिन्नता थी। इन नियमों का पालन विहार में ठहरने वाले प्रत्येक व्यकित के लिये संभवतः अनिवार्य रहा होगा।

हुएनसांग द्वारा प्रस्तुत इन समस्त विवरणों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि बौद्ध धर्म इस काल में भी भारत का सर्वाधिक प्रमुख धर्म था। हुएनसांग को उसके पतन के लक्षण कहीं भी दिखाई नहीं देते। इसने प्रत्येक स्थान पर बौद्ध परंपराओं को जीवित पाया। बौद्ध संस्थाओं को भी उसने समस्त देश में फैले हुए तथा समृद्धिशाली दशा में देखा। उसने बौद्ध धर्म को समृद्धि की ऐसी दशा में पाया जिसमें शताब्दियों तक उसके पतन की संभावना न थी,।।[50] यात्री की बौद्ध धर्म के अस्तित्व संबंधी ये धारणाएँ

पूर्णतया सत्य नहीं मानी जा सकती। यात्री ने भारत में केवल उन स्थानों का ही भ्रमण किया था जहाँ बौद्ध धर्म जीवित था और जिन्हें तत्कालीन भारत के बौद्ध केन्द्र माना जा सकता है। वह उन स्थानों पर न गया जहाँ ब्राह्मण धर्म का प्रभुत्व स्थापित था और न ही उसने जन-संपर्क स्थापित कर उसकी धार्मिक भावनाएं ज्ञात करने का प्रयास किया। यात्री अपने भ्रमण के इस सीमित क्षेत्र के कारण ही भारत के बौद्ध धर्म के स्थान का वास्तविक मूल्यांकन न कर सका। वास्तव में इस समय बौद्ध धर्म पतोन्मुख हो रहा था और ब्राह्मण धर्म तीव्र गति से भारत का धर्म बनता जा रहा था।

बौद्ध धर्म के अनेक महत्वपूर्ण केन्द्र, जो कभी बहुत उन्नत अवस्था मे रह चुके थे, अब अपने पतन की अवस्था में थे। कपिलवस्तु देश में दस से अधिक नगर ऐसे थे जो बिल्कुल उजाड़ हो गये थे। राजधानी स्वयं इस प्रकार संपूर्णतः ध्वस्त हो चुकी थी कि उसका क्षेत्रफल निश्चित करना भी असंभव था।[51] कपिलवस्तु देश में लगभग एक सहस्त्र बौद्ध मठ पाए जाते थे। बुद्ध के परिनिर्वाण का स्थान कुशीनगर भी नष्ट हो गया था, उसमें बहुत थोडे से लोग रहते थे। नगर के अंदर का भाग बिल्कुल उजाड हो गया था,[52] वैशाली देश में, जहाँ पहले कई सौ मठ थे, अब केवल तीन या चार मठ शेष बचे थे, जो अब नष्ट तथा उजाड़ हो गये थे और भिक्षु बहुत थोडे रह गये थे।[53] वज्जि देश का प्रधान नगर ध्वस्त हो गया था।[54] इस देश में बौद्ध बहुत थोड़े थे। मगध देश में, जो किसी समय बौद्ध धर्म का केन्द्र था, यद्यपि लोग बौद्ध धर्म का आदर अब भी करते थे , किंतु वहाँ अब बहुत से देवमंद्रिर बन गये थे और विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी बहुत अधिक संख्या में वर्तमान थे।[55] पाटलिपुत्र में सैकड़ों मठों और मंदिरो के ध्वंसावशेष मौजूद थे।[56]

इस काल में जहाँ ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत शिव, पार्वती, विष्णु तथा अनेक अवतारों आदि की एवं बौद्ध धर्म के अन्तर्गत बुद्ध तथा अवलोकितेश्वरों आदि की उपासना होती थी, वहीं कुछ अन्य देवताओं का भी समाज में स्थान था। ये देवता धार्मिक जीवन के यदि महत्वपूर्ण अंग नहीं तो सामजिक जीवन के अंग अवश्य थे। इन देवताओं में सूर्य का महत्वपूर्ण स्थान था। वर्द्धन वंश काल में मुल्तान का सूर्य मंदिर अत्यधिक प्रसिद्ध था। हर्ष के पूर्वजों में

राज्यवर्द्धन प्रथम, आदित्यवर्द्धन तथा प्रभाकरवर्द्धन को परमादित्य भक्त कहा गया है।[57] भारतीय धार्मिक जीवन में सूर्य ने देवता के रूप मे कब प्रवेश किया कहना सरल नहीं है। वैसे तो वैदिक काल में सूर्य की उपासना सावित्री,, मित्र, पूषन, विष्णु आदि के रूप में की जाती थीं किंतु वैदिक काल के उपरांत देवता के रूप में सूर्य का महत्व कम हो गया था। कुषाणकाल के प्रारंभ में सूर्य की उपासना ने पुनः समाज मे अपना स्थान बना लिया। सूर्य की उपासना के इस प्रचार में ईरानी शकों का प्रभाव मुख्य कारण था।[58] संभवत. शकों ने सूर्य-पूजा ईरानियों से प्राप्त की थी। शक सूर्योपसाना को अपने साथ भारत लाये। ब्राह्मण धर्म अपनाने के उपरांत भी शक सूर्य की उपासना करते रहे। उन्होंने सूर्य के मंदिरों की स्थापना की थी। संभवतः भारतीयों को सूर्य की उपासना में विदेशी देवता के दर्शन न हुए क्योंकि आर्य सूर्योपासक थे। संभवतः सूर्य प्राचीन आर्य और ईरान के निवासियों के सामूहिक जीवन के समय का देवता था। भारत में बस जाने के उपरांत जहाँ आर्यो की कल्पना ने अन्य अनेक देवताओं का निर्माण कर डाला और उसमें सूर्य का महत्व कम हो गया, वहीं ऐसा प्रतीत होता है कि ईरानियों ने सूर्य का मोह न त्यागा और वह उनका प्रमुख देवता बना रहा। संभवत· स‾स्कारों की एकता के परिणामस्वरूप ही भारत ने भी सहज ही सूर्य को देवता के रूप में स्वीकार कर लिया। किंतु सूर्य का देवता के रूप में अस्तित्व इतना प्रभावोत्पादक न था कि वह विष्णु सदृष्य भारतीय देवताओं के सम्मुख अपना अस्तित्व बनाये रख सकता। वैष्णव धर्म के चरम उत्कर्ष के समय समाज मे विष्णु का महत्व इतना बढा कि सूर्योपासक वैष्णव सम्प्रदाय में विलीन हो गये। डा0 पन्निकर के अनुसार विष्णु के एक हाथ का चक्र इसी सूर्य का प्रतीक है,[59] इस चक्र को भारतीय परंपराओं में स्वयं प्रकाशित माना गया है। सूर्य भी स्वयं प्रकाशित है। सभत· सूर्योपासकों को वैष्णव धर्म में विलीन करने के लिए ही चक्र के रूप मे सूर्य की कल्पना कर उसे विष्णु का एक महतवपूर्ण अंग मान लिया गया था। यह अवश्य है कि अन्य सूर्योपासकों का कोई पृथक सम्प्रदाय नहीं किंतु सूर्य की उपासना ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत आज भी भारतीय जीवन का अंग बनी हुयी है।

सूर्य के अतिरिक्त दुर्गा की उपासना भी समाज में प्रचलित थी। दुर्गा के उपासक शाक्त कहलाये थे। इनका अपना पृथक संप्रदाय था। शाक्त

मतानुयायी दुर्गा को शिव की शक्ति के रूप में मानते थे। इस दृष्टिकोण से शाक्त संप्रदाय शैव सम्प्रदाय का ही एक अंग प्रतीत होता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी दुर्गा को प्रसन्न करने के लिए बलिदान देने की प्रथा मे विश्वास करते थे। मनुष्यों को भी बलिदान कर देने में इन्हें संकोच न होता था। स्वयं हुएनसांग एक बार इनके चंगुल मे फंस गया था। यात्री के अनुसार जब वह अयोध्या से हयमुख जा रहा था, उस समय डाकुओं ने उस नाव को जिस पर वह अन्य अस्सी व्यक्तियों के साथ यात्रा कर रहा था, घेर लिया। ये डाकू दुर्गा के उपासक थे। वर्ष में एक बार ये उन व्यक्तियों में से जिन्हें ये पकड पाते थे, सबसे सुंदर व्यक्ति को अपने भविष्य की समृद्धि के लिए बलिदान कर देते थे। डाकुओं ने हुएनसांग को बलिदान के लिए चुना। आगामी आपत्ति की सूचना प्राप्त कर भी यात्री ने निर्भय होकर उनसे अपनी मुक्ति की प्रार्थना की। डाकुओं पर जब उसकी प्रार्थना का कोई प्रभाव न हुआ और उन्होंने उसे बलि की वेदी पर डाल दिया, उस समय उसने अपनी मृत्यु निकट जान मैत्रेय बोधिसत्व की प्रार्थना के परिणाम स्वरूप एक अनोखा चमत्कार एक भयकर तूफान हुआ, जिसने पेड़ों को तोड डाला, चारो ओर बालू के बादल छा गये, नदी में लहरे उठने लगीं और समस्त नौकायें डूब गईं। इन भयानक दृश्यो से डाकू इतने भयभीत हुए कि उन्होंने अपने हथियार नदी में फेक दिए और यात्री के चरणों में गिर कर क्षमा मांगने लगे। यात्री ने उन्हें क्षमा कर दिया। यात्री ने दुर्गा के उपासकों का जो रूप इस घटना मे वर्णित किया है उसके आधार पर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि दुर्गा की उपासना का यह वीभत्स रूप सभ्य समाज का अंग कभी न रहा होगा। संभवतः सभ्य समाज में दुर्गा की उपासना पशुओ के बलिदान से ही सपन्न की जाती रही होगी।

वर्द्धन वंश काल में चन्द्रमा[60] तथा इन्द्र[61] की उपासना के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं। कामदेव की पूजा का भी इस काल में विशेष प्रचार हो चुका था। कामदेव की पूजा से संबंधित मदन महोत्सव एक अत्यधिक लोकप्रिय उत्सव माना जाता था। इस मदन महोत्सव पर हर्ष के ही शब्दों में "मतवाली कामनियाँ अपने हाथों में पिचकारी लेकर नागर पुरूषों पर रंग डाल रही हैं और वे पुरूषगण कौतुहल से नाच रहे हैं। चारों ओर बजते हुए डम्फ और

ताली के शब्दों से गलियां मुखरित हो रही है। उडाये गये गुलाल से दस दिशाओं का मुख पीत वर्ण हो रहा है।[62] यहॉ मदन महोत्सव वसन्तमहोत्सव का परिचायक है।

देश का धार्मिक जीवन सदैव से ही दो प्रकार के विश्वासों के माध्यम से अपने अस्तित्व का प्रदर्शन करता रहा है। प्रथम तो वे विश्वास जो किसी निश्चयात्मक दर्शन पर आधरित रहे हैं और दूसरे वे जिनका अस्तित्व न तो तर्क से मान्यता प्राप्त करता है और न संस्कृति से ही। कितु ये द्वितीय प्रकार के विश्वास मानव के स्वाभाव तथा व्यवहार से इतने अधिक सबधित रहते हैं कि इनका त्याग करने में असमर्थ रहता है। वे बहुधा यह भी नहीं जानते कि वे उन विश्वासों में क्यों विश्वास करते हैं। वे उनमें विश्वास करते हैं केवल इसलिए कि उनके पूर्वज उनमें विश्वास करते थे और उन्होंने भी उन्हे पैतृक संपत्ति के रूप में अपने पूर्वजों से प्राप्त किया है। इन्हीं विश्वासों का जो समय के साथ मनुष्य के स्वाभाव तथा व्यवहार का घनिष्ठ अग बन जाते है परंपरा नाम प्रदान कर दिया जाता है। ये परंपराये सामान्यतः दार्शनिक, धार्मिक विश्वासों से भी अधिक दृढ होती है। मनुष्य दार्शनिक एवं धार्मिक विश्वासों की अवहेलना कर देता है किंतु इन परंपराओ की अवहेलना करने मे वह स्वयं को सदैव असमर्थ पाता है।

वर्द्धनवश कालीन उत्तरी भारत भी कुछ ऐसी ही परंपराओ से प्रभावित था। इन परंपराओं को अंध विश्वास की कोटि में रखना अधिक उचित होगा। इन अंधविश्वासों में सर्वप्रथम स्थान उन लक्षणों का है जो मनुष्य को भविष्य की शुभ अथवा अशुभ घटनाओं की सूचना देने वाली मानी गयी हैं। अशुभ अथवा अमंगलकारी भविष्य की सूचना देने वाले निम्न लक्षणों का बाण ने उल्लेख किया है[63] :-काले हिरणो का इधर-उधर मंडराना। बाण ने काले हिरणों को यमराज का दूत कहा है। घर के आंगन में छत्ते से उड़कर मधुमक्खियाँ का मर जाना, दिन में श्रृगाली का मुँह उठाकर रोना, जंगली कबूतरों का घरों में आना,[64] उपवन वृक्षों में अकाल पुष्पों का खिलना, सभास्थलों के खंभों पर बनी शालभंजिकाओ के आंसू बहना, दपर्ण में अपना सिर घड़, से अलग होता दिखाई पड़ना। चूड़ामणि में पैरों के निशान प्रकट

होना, चेरियों के हाथ से चंवर छूटकर गिरना, हाथियों के गण्डस्थल भौरों से शून्य होना, घोड़ों द्वारा हरे धान का खाना छोड़ देना, कंकण पहने बालिकाओं के ताल देने पर भी मंदिर मयूरों का न नाचना, रात्रि में मुँह उठाकर कुत्तों का रोना, रास्तें में नगी स्त्री (कोटवी) घूमती हुई दिखाई देना, [65] महल अथवा घरों के फर्शों में घास का निकलना, स्त्रियों को मधुपात्र में प्रतिबिम्वित मुख में विधवाओं जैसा वेणी दिखाई पड़ना, भूमि का कांपना शरीर पर रक्त की बूंदे दिखाई पड़ना, दिशाओं में उल्कापात होना, भयंकर झंझावात से घरों का झकझोर डाला जाना।

उपर्युक्त के अतिरिक्त बाण ने कुछ और निम्न अशुभ लक्षणें का उल्लेख किया है[66]-हिरण का वायीं ओर से निकलना, [67] कौआ का सूर्य की ओर मुख कर सुखे पेड़ पर बैठकर कांव-कावं करना, [68] तथा मैले कुचैले नंगे साधु का हाथ में मोरछल लिये सामने दिखाई पड़ना। [69]

आपत्तियाँ दुखदायी होती हैं। मनुष्य सभ्यता के प्रारंभ से ही सुख की कामना करता आया है। वह दुखों से सदैव बचना चाहता है। वह इस सत्य से भी परिचित रहा है कि उसके आगामी जीवन में सुख भी हैं और दुख भी है। आगामी जीवन के इन्हीं सभावित दुःखो को दूर कर वह सदैव अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्शील रहता है। कितु वह मानवीय (तर्क संगत) उपायों से आगामी जीवन का घटनाओ पर नियंत्रण स्थापित करने में सदैव अपने को असमर्थ पाता रहा है। उसने अपनी इस असमर्थता को छिपाने के लिये ही संभवतः कुछ नियमो का निर्माण कर डाला जिनका पालन आगामी आपत्तियो का नाश करने के लिए वह आवश्यक मानने लगा। विशेष रूप से प्रस्थान के समय इन नियमों का पालन अतयधिक महत्वपूर्ण था। प्राचीन काल में पथ सुरक्षित न थे और इस कारण यात्रा करने वाले का जीवन भी सुरक्षित न माना जाता था। अतएव यात्रा आदि के अवसर पर सकुशल यात्रा के लिए कुछ अशुभ विनाशी क्रियाएँ करना आवश्यक सा था। लोगों की धारणा थी कि इन क्रियाओं के विधिवत संपन्न करने से यात्रा संबंधी आपत्तियाँ स्वतः नष्ट हो जाती है। वर्द्धन वंश काल में भी लोगों का कुछ ऐसा ही विश्वास था। बाण द्वारा हर्ष की राजसभा के लिये घर से प्रस्थान करने के

पूर्व की जाने वाली क्रियायें[70] इस संबंध में पर्याप्त प्रकाश डालती है। प्रस्थान करने से पूर्व बाण ने स्नान कर श्वेत वस्त्र धारण किये, हाथ में माला ली और प्रस्थान करने संबंधी सूत्र और मत्रों का पाठ किया। उसने शिव को दूध से स्नान कराकर उसकी विधिवत पूजा की,, तत्पश्चात उसने ब्राह्मणों को दक्षिणा बांटी, पाङ्मुखी नैचिकी [71] गऊ की प्रदक्षिणा की,, श्वेत चदन, श्वेत माला तथा श्वेत वस्त्र धारण किये, गोरोचना लगाकर दूबनाल में गूथे श्वेत अपराजिता के फूलों का कर्णपूर कानों में लगाया और शिखा में पीली सरसों धारण की। इस प्रकार यात्रा के लिए तत्पर हो, उसने बडों का आशीर्वाद प्रापत कर ज्योतिषी के अनुसार नक्षत्र-देवताओं को पूजन द्वारा प्रसन्न किया। इन समस्त क्रियाओं के उपरांत उसने गोबर से लिपे आंगन के चौतरे पर स्थापित पूर्ण कलश के दर्शन कर कुल देवताओं को प्रणाम किया और फिर दाहिना पैर उठाकर उसने यात्रा के लिए प्रस्थान किया। बाण का प्रस्थान से पूर्व इन क्रियाओं के संपन्न करने का वर्णन सामान्य लोगों की क्रियाओं का परिचायक है। राजाओं की क्रियाएं भी संपन्न तो लगभग इसी विधि से की जाती थी,, अंतर केवल उनके आर्थिक तथा पद संबधी स्तर का होता था। हर्ष द्वारा सैन्य प्रयाण से पूर्व की जाने वाली क्रियाएं इस सत्य का प्रमाण हैं।[72]

बाण द्वारा प्रस्तुत प्रस्थान के पूर्व की क्रियाओं के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आज के समान तत्कालीन भारत मे भी लोगों को नक्षत्रों की अपार शक्ति में पूर्ण विश्वास था। उनकी धारणा थी कि नक्षत्रों का प्रभाव जीवन पर पड़ता है। वह अच्छा भी होता है, और बुरा भी। इसी धारणा के परिणामस्वरूप वे शुभ नक्षत्रों में ही कार्य प्रारंभ करना उचित समझते थे और बुरे नक्षत्रों का प्रभाव नष्ट करने के लिए पूजन आदि करते थे। बाण ने प्रस्थान से पूर्व नक्षत्र देवताओ की पूजा की थी। हर्ष के सैन्य प्रयाण का समय भी ज्योतिषियों ने ही निश्चित किया था।[73] ज्योतिषी नक्षत्रों के पूर्ण ज्ञाता माने जाते थे। बाण ने ज्योतिषियों का अत्यंत्र भी उल्लेख किया है। हर्ष के जन्म के समय राजकुमार के ग्रह देखने के लिए तारक नाम का ज्योतिषी बुलाया गया था।[74]

आज के समान ही उस काल के लोग भी भूतों मे विश्वास करते थे। रत्नावली में हर्ष ने भूतों के अस्तित्व का उल्लेख किया है।[75] लोगों की धारणा थी कि अनेक आपत्तियॉ भूतों के कार्यों का परिणाम होती है। नक्षत्रों के बुरे प्रभावों के समान ही भूतों से उत्पन्न आपत्तियों का नाश भी लोग विभिन्न पूजा-पाठ आदि द्वारा करते थे। प्रभाकरवर्द्धन की रूग्नावस्था के अवसर पर बाण ने इस संबंध में पूजा-पाठ का विशद चित्रण किया है। प्रभाकरवर्द्धन के स्वास्थ्य के लिए जहाँ बाण के अनुसार एक ओर वैद्य आदि चिंतित थे और विभिन्न औषधियाँ निर्मित की जा रही थी, वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो बीमारी को नक्षत्रों, भूतों आदि का प्रभाव मानकर उसके निदान का भी प्रयास कर रहे थे। निदान के प्रयासों से तत्कालीन समाज के इस सबंध मे विश्वासों का भी पूर्ण प्रदर्शन हो जाता है। बाण के अनुसार यदि कहीं कोटि होम की भी आहुतियों का धुआं यमराज के भैंसे के टेढे सीगों की तरह उठ रहा था तो कहीं स्नेही लोग उपवास द्वारा हर को प्रसन्न करने में व्यस्त थे। यदि कहीं कुलपुत्र दिपाली जलाकर मातृमंडल को प्रसन्न कर रहे थे तो कहीं द्रविड मुण्डोपहार चढ़ाकर वेताल (अमर्दक) को प्रसन्न करने की तैयारी में था। यदि कहीं आंध्र देश का पुजारी भुजा उठाकर चण्डिका के लिए मनौती मान रहा था तो कहीं नवसेवक महाकाल को प्रसन्न करने के लिए सिर पर मुग्गुल जलाकर उसकी पीड़ा से छटपटा रहे थे। यदि कहीं आप्तवर्ग (स्वजन) के लोग अनिष्टबाधा के लिये तेज छुरी से स्वय अपना मांस काटकर होम कर रहे थे तो कहीं राजकुमार खुले आम महामांस विक्रय की तैयारी में थे।[76] यह अवश्य है कि ये क्रियाएं तत्कालीन सस्कृति के लिए शोभास्पद नहीं स्वीकार की जा सकतीं , फिर भी इनके द्वारा समाज के विश्वासों का तो पूर्ण परिचय प्राप्त ही हो जाता है और इस कारण ये महत्वपूर्ण भी बन जाती है।

सार्वजनिक विश्वासों के क्षेत्र में कुछ लक्षण स्वयं मनुष्य के अंगों से संबंधित थे जैसे आँख का फड़कना। लोगों की धारणा थी कि पुरूष की बाईं तथा स्त्री की दाहिनी आँख फडकना अशुभ है और स्त्री की बाईं तथा पुरूष की दाहिनी आँख फड़कना शुभ है। हर्ष ने जीमूतवाहन के द्वारा इस सार्वजनिक विश्वास को व्यक्त कराया है। जीमूतवाहन कहताा है "दाहिनी आँख फड़कती है किंतु मुझे किसी फल की अभिलाषा नहीं है। मुनियों का

वचन झूठा नहीं होता अतः देखें आज क्या फल होता है।[77] यहाँ निश्चय ही जीमूतवाहन किसी शुभ फल की आशा करता है।"

पुष्यभूति को बाणभट्ट के हर्षचरित के अनुरूप प्रथम शासक माना जाता है, जो भगवान शंकर का अनन्य भक्त था और उसकी समस्त प्रजा के घर-घर में शिव की पूजा होती थी।[78] इस उद्धरण से तो यह स्पष्ट होता है कि वर्द्धनवंश का प्रथम शासक पुष्यभूति और उसकी प्रजा की अटूट भक्ति भगवान शंकर के प्रति थी एवं प्रजा के घर में शिव की ही पूजा होती थी। वास्तव में जैसा शासक होता है उसके ही अनुरूप प्रजा भी हो जाती है क्योंकि राजा का धर्म प्रजा का भी धर्म बन जाता है। अच्छे शासको के आचरण का प्रभाव प्रजावर्ग पर अवश्य पडता है।

पुष्यभूति के पश्चात् परमप्रतापी प्रभाकरवर्द्धन नाम का शासक शासनाधिकारी हुआ। बाणभट्ट के हर्षचरित के अध्ययन से यह स्पष्ट रूप मे अवगत होता है कि प्रभाकरवर्द्धन अपने नाम के ही अनुरूप प्रभाकर अर्थात् सूर्य का परमभक्त था और सूर्य की परम उपासना से उसे तीन प्रतापी संतानों की प्राप्ति हुयी थी। राजा प्रभाकरवर्द्धन प्रतिदिन सूर्योदय के समय स्नान करके श्वेत वस्त्र धारण करके पूर्व की ओर मुख करके घुटनों के बल बैठकर वह राजा सूर्य को अर्घ्य देता था। प्रातः, मध्यान्ह एवं सायं तीनों समय पुत्र-प्राप्ति के लिए पवित्र और पुनीत होकर 'आदित्य ह्रदय' मंत्र का जाप करता था।[79]

अपने शासन के प्रारंभिक काल में हर्ष निश्चय ही शैव धर्मानुयायी था। शिव के उपासक हर्ष ने परममाहेश्वर [80] की उपाधि धारण की थी। उसकी मुद्रा पर भी शिव के वाहन नंदी, (वृष) का चिन्ह अंकित था।[81] सैन्य प्रयाण से पूर्व भी उसने अपने अराध्यदेव शिव का ही पूजन किया था।[82] रत्नावली नाटिका का प्रारंभ भी हर्ष ने शिव तथा पार्वती की प्रार्थना से ही किया है।[83] इन समस्त प्रमाणों के सम्मुख हर्ष के शैव धर्मानुयायी होने के संबंध में कोई शंका का स्थान शेष नही रह जाता। अपने जीवन के इस काल में हर्ष शिव के साथ अन्य देवताओं का भी मान करता था। शिव के प्रति उसकी श्रद्धा अन्य धर्मानुयायियों के प्रति अनुदार नीति अपनाने का कारण कभी न बन सकी। बंसखेड़ा ताम्रपत्र लेख के अनुसार उसका ज्येष्ठ भाई राज्यवर्द्धन

परमसौगत था। यदि उसके हृदय में धार्मिक स्तर पर लेशमात्र भी कटुता अथवा द्वेष की भावना होती उस दशा में वह पिता द्वारा साम्राज्य प्राप्त करने के उपरांत भी उसे बौद्ध धर्मानुयायी के पक्ष में त्याग न देता। शासक के व्यक्तिगत धर्म का प्रजा पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है, इस सत्य से वह परिचित था। शासक के रूप में अपने अराध्यदेव शिव के धर्म का कितना प्रचार वह कर सकता था, इस सीमा का भी उसे ज्ञान था। किंतु इन समस्त संभावनाओं को उसने अपने ज्येष्ठ भाई के जन्मजात अधिकारों के लिए बलिदान कर दिया। यह बलिदान उसकी मानवीयता के साथ उसकी धार्मिक सहिष्णुता का ही परिचायक हैं।

शिव के प्रति हर्ष की असीम श्रद्धा संभवतः उसके जीवन के अंत तक बनी न रह सकी। श्रद्धा के क्षेत्र में यह परिवर्तन स्वयं उसकी ही रचना से स्पष्ट हो जाता है। जहाँ हर्ष ने रत्नावली नाटिका का प्रारंभ शिव पार्वती की प्रार्थना से करता है, वहीं नागानंद में शिव का स्थान बुद्ध की प्रार्थना ले लेती है।[84] शिव के स्थान पर बुद्ध की प्रार्थना इस संभावना का प्रमाण है कि हर्ष ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। हुएनसांग के उल्लेखों से भी हर्ष का बौद्ध धर्मानुयायी होना प्रमाणित है।[85] नागानंद तथा चीनी यात्री के उल्लेखो से हर्ष द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार किया जाना तो प्रमाणित हो जाता है, किंतु यह ज्ञात नहीं होता कि हर्ष ने धर्म परिवर्तन कब किया और क्यों किया?

हर्ष द्वारा धर्म परिवर्तन के संबंध मे कब और क्यों की समस्या का समाधन प्रत्यक्ष प्रमाणों से नहीं हो पाता परन्तु अप्रत्यक्ष प्रमाणों से अवश्य इन समस्याओं को किसी सीमा तक सुलझाया जा सकता है। बाण के अनुसार विन्ध्याटवी में निवास करने वाला बौद्ध भिक्षु दिवाकरमित्र राज्यश्री के पति ग्रहवर्मा का बालमित्र था।[86] उसकी ख्याति के कारण स्वयं हर्ष भी उससे मिलने को उत्सुक था और अनेक बार उससे मिलने का विचार भी कर चुका था। हर्ष को राज्यश्री की प्राप्ति भी दिवाकरमित्र के सहयोग से ही संभव हो सकी थी। राज्यश्री का शोकावेग भी भिक्षु के उपदेशों से ही शांत हुआ था। इसी अवसर पर राज्यश्री ने ताम्बूलबदिनी पत्रलता द्वारा हर्ष से कषायवस्त्र धारण करने की अनुमति मांगी थी।[87] किंतु दिवाकरमित्र के उपदेशों के परिणामस्वरूप उसने कषायवस्त्र धारण करने का आग्रह त्याग दिया था। बाण

के अनुसार हर्ष ने इसी समय यह प्रतिज्ञा की थी- "भाई के वध का बदला लेने के लिए शत्रुदल के नाश की प्रतिज्ञा मैं सब लोगों के समक्ष कर चुका हूँ. ....अपने इस कार्य से निवृत्त होने पर मैं और यह (राज्यश्री) एक साथ कषाय ग्रहण करेंगे।[88] इस प्रतिज्ञा के साथ ही हर्ष ने दिवाकरमित्र के शरीर का दान भी मांगा और वह भी बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने से पूर्व राज्यश्री को भगवान तथागत के सिद्धांतों को समझाने के लिये।[89] दिवाकरमित्र ने हर्ष की प्रार्थना स्वीकार कर ली और वह हर्ष के साथ चला गया। बाण के इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हर्ष ने बौद्ध धर्म की दीक्षा दिवाकरमित्र से ग्रहण की थी। अनेक विद्वान हर्ष की प्रतिज्ञा के आधार पर दिवाकरमित्र को ही उसे बौद्ध धर्मानुयायी बनाने का श्रेय प्रदान करते हैं। विद्वानों की यह धारणा उस सीमा तक न्यायोचित है जहाँ तक हर्ष को धर्म में दीक्षित करने का प्रश्न है, किंतु इसी आधार पर यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि हर्ष दिवाकरमित्र के उपदेशों से ही बौद्ध धर्म से प्रभावित हुआ अथवा उसके हृदय में बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग तथा मान की भावना तो उसके हृदय में इससे पूर्व ही विद्यमान थी। बाण का कथन इस सत्य का अप्रत्यक्ष प्रमाण है। बाण के अनुसार हर्ष विन्ध्याटवी में भिक्षु से मिलने के पूर्व ही अनेक बार उससे मिलने का विचार कर चुका था। बौद्ध भिक्षु से मिलने का विचार यदि बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग नही तो और क्या है। हर्ष का ज्येष्ठ भाई राज्यवर्द्धन बौद्ध धर्मानुयायी था। संभवतः हर्ष बौद्ध धर्म के प्रति राज्यवर्द्धन के विचारों से ही प्रभावित हुआ होगा। इस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेने पर दिवाकरमित्र को केवल हर्ष को बौद्ध धर्म मे दीक्षित कर देने का ही श्रेय प्राप्त होता है। इस परिवर्तन का शिलान्यास करने का श्रेय राज्यवर्द्धन को ही प्राप्त होना चाहिए। राज्यवर्द्धन को इस परिवर्तन का मूल कारण स्वीकार कर लेने पर, 'क्यों' की समस्या का भी समाधान हो जाता है। हर्ष ने अशोक की भांति युद्ध में घायलों की सिसकियों से प्रभावित हो बौद्ध धर्म को स्वीकार नहीं किया, वरन् वह स्वाभविक रूप से अपने भाई के विचारों के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म से प्रभावित हुआ था और दिवाकरमित्र के व्यक्तित्व ने इस प्रभाव को दृढ़ता प्रदान कर दी थी। हर्ष ने अपने भाई का बदला लेने के उपरांत बौद्ध धर्म ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की थी। इस प्रतिज्ञा के आधार पर सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि हर्ष ने बौद्ध धर्म दिग्विजय के

उपरांत स्वीकार किया। हुएनसांग के अनुसार हर्ष ने राज्याभिषेक के उपरांत छः वर्ष में पंचहिन्द पर अधिकार कर लिया था। हर्ष का राज्याभिषेक 606 ई0 के लगभग हुआ। इस प्रकार हर्ष ने 612 ई0 तक पंचहिन्द (पंजाब, कान्यकुबज, गौड़, मिथिला, तथा उड़ीसा) पर अधिकार कर लिया था और इसके उपरांत ही उसने बौद्ध धर्म स्वीाकर किया।[90] अतएव हर्ष द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकर किये जाने का समय 612 ई0 के लगभग ठहरता है।

अनेक विद्वान हर्ष द्वारा बौद्ध धर्म को स्वीकर किये जाने के सत्य को ही स्वीकार नहीं करते। वे बौद्ध धर्म के प्रति हर्ष के अनुराग को उसकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। अपने मत की पुष्टि के लिए वे निम्न मुख्य तर्क प्रस्तुत करते हैं-

(क) हर्ष ने कान्यकुब्ज परिषद में बौद्धों के अतिरिक्त ब्राह्मण आदि विभिन्न धर्मानुयायियों को भी आमंत्रित किया था।

(ख) प्रयाग दान महोत्सव के अवसर पर हर्ष ने बुद्ध के अतिरिक्त सूर्य तथा शिव की उपासना भी की थी, तथा बौद्धो के अतिरिक्त अन्य धर्मानुयायियों को भी दान दिया था।

(ग) रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नामक हर्ष की कृतियों के प्रधान देवता ब्राह्मण धर्म से संबंधित हैं। नागानंद मे जहॉ प्रमुख देवता बुद्ध हैं उसमें भी हर्ष ने गौरी तथा गरूड का उल्लेख किया है।

(घ) हर्ष के अभिलेखों से उनके द्वारा ब्राह्मणों को ग्रामों का दान देना प्रमाणित होता है।

(ड़) बंसखेड़ा-ताम्रपत्र-लेख हर्ष को शिव का उपासक घोषित करता है।

(च) हर्ष की मुद्राओं पर नन्दी (वृष) का चिन्ह अंकित है। नन्दी शिव का वाहन है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर विद्वान यह प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं कि हर्ष वास्तव में शैव धर्मानुयायी था, किंतु धार्मिक सहिष्णुता की

नीति अपनाने के कारण वह प्रत्येक धर्मानुयायी के साथ उदारता का व्यवहार करता था। बौद्ध धम्र उस काल का एक महत्वपूर्ण धर्म था, अतः वह बौद्ध धर्म इस काल का एक महतवूपर्ण धर्म था, अतः वह बौद्ध धर्म का विशेष सम्मान करता था। किंतु हर्ष के धर्म के संबध में विद्वानो का यह संदेह भ्रमात्मक है। हर्ष जैसा कि पूर्व ही मे ही प्रमाणित किया जा चुका है, प्रारंभ में शैव धर्मानुयायी था। इस काल में उसके द्वारा ब्राह्मण धर्म के देवताओ की उपासना त्था उनके अनुयायियों को दान दिया जाना पूर्णतया स्वाभाविक था उसकी मुद्रा पर भी नन्दी का चिन्ह अकित होना इस काल के उसके धार्मिक विश्वास का ही पचायक था। हर्ष को बौद्ध धर्मानुयायी मानने में उस समय संदेह भी किया जा सकता था। यदि ब्राह्मण धर्म के देवताओं की प्रमुखता जो उसके प्रारंभिक जीवन मे दिखाई देती है , अंत तक बनी रहती । जहॉ नागानंद में बुद्ध शिव का स्थान ले लेते हैं वही ˙, कान्यकुब्ज परिषद मे भी जिसका आयोजन स्वयं हर्ष ने किया था, वह आयोजन के प्रारंभ से पूर्व बुद्ध की मूर्ति की स्थापना करता है। प्रयाग परिषद में भी हुएनसांग के अनुसार वह सर्वप्रथम बुद्ध की ही उपासना करता है। बुद्ध की यह प्रधानता उसमें होने वाले धार्मिक परिवर्तन का स्पष्ट प्रदर्शन करने में समर्थ है। हर्ष ने कश्मीर नरेश से बुद्ध के धातु अवशेष (दाँत)[91] शक्ति के प्रदर्शन द्वारा प्राप्त कर उन्हे, कान्यकुब्ज के पश्चिम में स्तूप का निर्माण करवा के, उसमें स्थापित कर दिये थे। हुएनसांग के अनुसार हर्ष ने सहस्त्रों सौ फीट उँचे स्तूपों का निर्माण करवाया था। ये समस्त स्तूप गंगा के किनारे तथा बौद्ध धर्म से संबंधित पवित्र स्थानों में निर्माण कराये गये थे। उसने नालदा मे भी सौ फीट उॅचे एक विहार का निर्माण कराया था। हर्ष प्रतिवर्ष बौद्ध विद्वानों की एक सभा का भी आयोजन करता था। 21 दिनों तक यह आयोजन चलता रहता था। इसमें बौद्ध सिद्धांतों की व्याख्या होती थी। अंत में योग्य विद्वानों को वह पुरस्कृत करता था और सर्वाधिक योग्य भिक्षु को अपने गुरू के रूप में चुनकर सम्मानित करता था। हर्ष के ये समस्त कार्य इस धारणा की पुष्टि कर देते हैं कि हर्ष ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। किंतु बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के उपरांत भी वह अन्य धर्म वालों का मान करता रहा था। बौद्ध धर्म का यह एक विशेष गुण है कि उसके अनुयायी अन्य धर्म वालों के प्रति विद्वेष की भावना नहीं रखते थे। भारत के संपूर्ण इतिहास में ऐसे किसी भी बौद्ध धर्मानुयायी शासक

का उल्लेख प्राप्त नहीं होता जिसने धर्म के नाम पर अत्याचार किया हो। वे बौद्ध धर्मानुयायी होकर भी सहिष्णुता की नीति अपनाने में गौरव तथा अपना कर्तव्य अनुभव करते थे। हर्ष भी उसी परम्परा का अनुयायी था।

हर्ष बौद्ध धर्म की महायान शाखा का अनुयायी था। संभवतः हर्ष को हीनयान धर्म त्याग कर महायान धर्म स्वीकार करने की प्रेरणा चीनी यात्री हुएनसांग से प्राप्त हुयी थी। चीनी यात्री महायान शाखा का अनुयायी था। महायान शाखा के संरक्षक के रूप मे उसके प्रचार के लिए हर्ष ने क्या कार्य किये कहना कठिन है। हुएनसांगे के अनुसार हर्ष ने समस्त पचहिंद में पशु-बध का निषेध कर दिया था।[92] हर्ष द्वारा सहस्त्रों ही स्तूपों के निर्माण का उल्लेख पूर्व ही किया जा चुका है। उसने प्रजा की सुविधा के लिए यात्री के अनुसार पुण्यशालाओं का निर्माण कराया था। जहाँ गरीबों तथा अनाथों की आवश्यकतायें पूर्ण की जाती थी। वह नित्य एक सहस्त्र बौद्ध तथा पॉच सौ ब्राह्मण धर्मानुयायी भिक्षुओं को भोजन कराता था।[93] शासकों द्वारा नित्य-भिक्षुओं को भोजन कराने की परम्परा अत्यधिक प्राचीन काल से चली आ रही थी। हर्ष ने भी इसी परंपरा का पालन किया था। इन सार्वजनिक कार्यों के अतिरिक्त हर्ष का महायान सम्प्रदाय के प्रचार के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य कान्यकुब्ज परिषद् का आयोजन हैं।

हुएनसांग के महायान संबंधी तर्कों से प्रभावित होकर हर्ष ने महायान सम्प्रदाय के प्रचार के लिए कान्यकुब्ज में विभिन्न धर्मानुयायियों की एक परिषद् का आयोजन किया था। चीनी यात्री की जीवनी तथा यात्रा वर्णन से इस परिषद् का विस्तृत उल्लेख प्राप्त हो जाता है। जिस समय कान्यकुबज परिषद् के आयोजन की आज्ञा हर्ष ने प्रेषित की थी, उस समय वह बंगाल मे था। इस सभा में भाग लेकर हुएनसांग के विचारों का अध्ययन करने के लिए, उसने समस्त सम्प्रदायों अथवा धर्मों के अनुयायियो को निमत्रित किया था। बंगाल में अपने शिविर से कान्यकुब्ज के लिए हर्ष ने बड़ी धूम-धाम से प्रस्थान किया। वह स्वयं हुएनसांग के साथ गंगा के दक्षिणी तट के किनारे-किनारे चल रहा था और उसका मित्र भाष्करवर्मन उत्तरी तट के किनारे चल रहा था। गंगा की धारा से विभक्त दोनों ही शासकों के पीछे सैनिक आदि नावों तथा

हाथियों पर आरूढ होकर चल रहे थे। उनके पीछे अन्य सहस्त्रों व्यक्ति भी चल रहे थे। यात्रा के समय विभिन्न वाद्ययंत्र बजते चलते थे। नब्बे दिनों में यह यात्रा समाप्त हुयी। कान्यकुब्ज में इस समय तक हर्ष के मित्र आधीन 18 नरेश, तीन सहस्त्र महायान तथा हीनयान बौद्ध भिक्षु, तीन सहस्त्र ब्राह्मण तथा निर्ग्रन्थ तथा एक सहस्त्र नालंदा विश्वविद्यालय के विद्वान एकत्र हो चुके थे। दो सहस्त्र व्यक्तियों के लिए बैठने का प्रबंध पूर्व ही किया जा चुका था। इसके लिए फूस के दो विशाल कमरों का निर्माण किया गया था। जिसमें बुद्ध की एक स्वर्ण मूर्ति आसीन करने के लिए सिंहासन भी था।

इस अवसर पर हर्ष के निवास के लिए एक निवास-स्थान का भी निर्माण किया गया था। आयोजन का प्रारंभ एक जुलूस से हुआ। बुद्ध की 3 फीट उँची स्वर्ण-मूर्ति को हाथी पर रखा गया। मूर्ति के पीछे इन्द्र के रूप में हर्ष तथ ब्रह्म के रूप में कुमार (भास्करवर्मन) आसीन थे। मूर्ति के ऊपर छत्र आभूषित था। इस हाथी के पीछे दो हाथियों पर जवाहरात तथा फूल लदे थे। एक हाथी पर हुएनसांग आसीन था। अन्य हाथियों पर राज्य के प्रमुख अधिकारी,, विभिन्न शासक, मंत्री तथा विभिन्न राज्यों के पडित आसीन थे। सभा मण्डप पहुँचकर सर्वप्रथम बुद्ध की सोने की मूर्ति सिंहासन पर आसीन की गई। हर्ष तथा हुएनसांग ने इस मूर्ति की पूजा की। तत्पश्चात् मण्डप में क्रम से 18 नरेश, एक सहस्त्र चुने हुए भिक्षु, पॉच सौ चुने हुए ब्राह्मण आदि तथा दो सौ विभिन्न राज्यों के मंत्रियो ने स्थान ग्रहण किया। शेष व्यक्तियों ने सभा मण्डप के बाहर स्थान ग्रहण किया।

हर्ष ने परिषद् का उद्घाटन कर हुएनसांग से सभापति का पद ग्रहण करने की प्रार्थना की। हुएनसाग ने आसन ग्रहण कर मिंग-ह्य नामक नालंदा के एक विद्वान को अपनी व्याख्या के विषय की घोषणा करने की आज्ञा दी। उसने सभा मण्डप के द्वार पर भी विषय संबंधी सूचना लिखकर टंगवा दी। सूचना के अंत में उसने यह भी घोषणा लिपिबद्ध करा दी कि यदि कोई भी व्यक्ति उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों में एक शब्द भी तर्कहीन अथवा अनुचित खोज निकालेगा अथवा उसके तर्कों को काट देगा तो वह उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए अपना सर उसे सौंप देगा।

यद्यपि हुएनसांग की इस घोषणा ने परिषद् में उत्तेजना उत्पन्न कर दी, फिर भी किसी विद्वान ने उसके तर्कों का खण्डन करने का साहस न किया। चार दिनों तक कार्य सुचारू रूप से चलता रहा। पांचवें दिन हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायियों ने यह अनुभव कर कि चीनी यात्री ने अनेक सिद्धांतों का पूर्णतया खण्डन कर डाला है और वे तर्कों द्वारा उसका विरोध करने में असमर्थ है , उन्होंने यात्री के विरूद्ध एक षडयंत्र रचा। उनकी योजना यात्री को मार डालने की थी। हर्ष ने यह सूचना प्राप्त कर तुरंत एक आदेश प्रेषित कर षड्यंत्रकारियों को कठोर चेतावनी द्वारा सचेत कर दिया। उसने इस संबध में घोषणा की कि जो भी व्यक्ति यात्री को कष्ट पहुँचायेगा, उसका सर तुरंत ही काट डाला जायेगा। जो भी व्यक्ति उसके विरूद्ध बोलेगा उसकी जीभ काट डाली जायेगी। किंतु जो व्यक्ति उसके भाषण से लाभ उठाना चाहते हैं उन्हे इस आज्ञा से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। हर्ष की इस आज्ञा के परिणामस्वरूप समस्त विरोधी अथवा षड्यंत्रकारी शांत हो गये और किसी ने भी यात्री के विचारों का खंडन करने का साहन न किया। 18 दिनों तक यह आयोजन निर्विघ्न चलता रहा। अंत में एक बार पुनः यात्री ने महायान के साथ बुद्ध के गुणों का प्रतिपादन किया और उसने जिस ढंग से महायान सम्प्रदाय का समर्थन किया उससे प्रभावित हो बहुत से हीनयानी धर्मानुयायियों ने महायान सम्प्रदाय स्वीकार कर लिया।

हुएनसांग की इस महान विजय से प्रभावित हो लोगों ने प्रसन्नतापूर्वक उसे 'महायान देव' की उपाधि से आभूषित कर डाला। उसके विरोधियों ने भी उसकी श्रेष्ठता स्वीकार की और उन्होंने भी उसे 'मोक्ष देव' की उपाधि अपना सम्मान प्रदर्शन करने के लिए दे डाली।[94] हर्ष ने भी अपने साथी नरेशों सहित सोना-चांदी के रूप में अत्यधिक पारितोषिक देना चाहा किंतु हुएनसांग ने यह स्वीकार नहीं किया। हर्ष ने सभा के उपरांत उसे एक सजे हुए हाथी पर आसीन कर जूलूस निकाला और यह घोषणा की कि चीनी यात्री ने महायान सम्प्रदाय की श्रेष्ठता प्रमाणित कर समस्त सम्प्रदायों का खंडन कर डाला है। 18 दिनों में कोई भी उसके तर्कों का खंडन न कर सका। उसकी यह महान विजय सभी को ज्ञात हैं। यात्री की इस विजय की स्मृति में हर्ष ने बुद्ध की

सोने की मूर्ति नालंदा विहार में स्थापित कर दी और भिक्षुओं के लिए बहुत अधिक धन भी दिया।

कान्यकुब्ज परिषद् के अवसर पर जिस षड्यत्र का उल्लेख किया जा चुका है, सी-यू-की,[95] मे उसका विवरण दूसरे रूप में प्राप्त होता है। सी-यू-की के अनुसार सम्मेलन के अंतिम दिन चैत्य मे आग लग गई। आग तुरंत बुझा दी गयी। हर्ष अन्य नरेशों के साथ इस अग्निकांड का दृश्य स्वयं देखने के लिए चैत्य के ऊपर गया। जब वह सीढ़ियों से नीचे उतर रहा था, उसी समय अनायास एक ब्राह्मण ने चाकू से हर्ष पर आक्रमण किया, किंतु हर्ष ने कुशलता से उसे पकड़ लिया। हर्ष के साथी नरेशो ने अभियुक्त को प्राणदण्ड देने की मांग की,, किंतु हर्ष ने उसे क्षमा कर दिया। उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया था और यह भी स्वीकार किया था कि वह सम्मेलन मे अपमानित ब्राह्मणों द्वारा हर्ष की हत्या करने के लिए नियुक्त किया गया था। इस संबंध में 500 ब्राह्मणों को बंदी बनाया गया और उन्होंने अपना अपराध स्वीकार कर यह भी बताया कि उन्होंने जलते हुए तीरों को फेंक कर मण्डप में आग लगाई थी। वे अग्नि लगने के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों में हर्ष की हत्या करना चाहते थे। अपनी हत्या के षड्यंत्र की सूचना प्राप्त कर भी हर्ष ने क्षमा की नीति अपनायीं। उसने केवल मुख्य षड्यत्रकारियों को ही दण्ड दिया। इस संबंध में 500 ब्राह्मणों को देश निकाला दिया गया।

सी-यू-की का यह विवरण सभव है पूर्णतया सत्य न हो, किंतु यह तो इस विवरण द्वारा निश्चित हो जाता है कि सम्मेलन मे एक षड्यत्र का निर्माण अवश्य हुआ था। यह षड्यंत्र धार्मिक कटुता का ऐसा विकृत रूप प्रस्तुत करने में भी पूर्ण समर्थ है जिसके अनुरूप अन्य कोई भी घटना प्राचीन भारत के इतिहास में सुलभ नहीं होती। इस सम्मेलन से ऐसा विदित होता है कि जहॉ महायान संप्रदाय की श्रेष्ठता को दृढता प्रदान कर दी, वहीं अन्य धर्मानुयायियों को उसका कट्टर शत्रु भी बना दिया।

कान्यकुब्ज परिषद् के अवसर पर महायान सम्प्रदाय के विरोधी धर्मानुयायियों ने जिस संकुचित तथा घृणास्पद दृष्टिकोण का परिचय दिया उसका हर्ष की धार्मिक नीति पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा ऐसा प्रतीत नही

होता। इस भयंकर षड्यंत्र के उपरांत एक सामान्य पुरूष से यही आशा की जाती है कि वह प्रतिहिंसा की भावना से भभक उठेगा। अपने प्रिय धर्म के विरोधियों को कठोर दण्ड दे उनके धर्म पर कठोर प्रहार करेगा। हर्ष मे विरोधियों पर नृशंस प्रहार करने की शक्ति भी थी। किंतु हर्ष भारतीय परंपराओं में पला था। उसका उद्देश्य भी पापी के स्थान पर पाप से घृणा करने के सिद्धांत पर आधारित था। वह संकुचित दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों के कार्यों का उत्तर मानवीय स्तर से देने का पक्षपाती था। उसका यह दृष्टिकोण ही उसे हिंदु भारत का अंतिम महान शासक सहज ही घोषित कर देता है। उसकी धार्मिक नीति कान्यकुब्ज परिषद् की दुर्घटना के उपरांत भी सहिष्णुता पर ही आधारित रही, इस सत्य की पुष्टि प्रयाग पंचवर्षीय-दान-महोत्सव से हो जाती है।

हर्ष गंगा-यमुना के संगम पर स्थित प्रयाग में प्रत्येक पॉचवें वर्ष दान-महोत्सव करता था। इस महोत्सव में वह पाँच वर्षों में संचित समस्त संपत्ति दान कर देता था। इसके इस महादान का बाण ने भी उल्लेख किया है।[96] हुएनसांग ने भी ऐसे ही एक महोत्सव का विशद वर्णन किया है। हुएनसांग के अनुसार हर्ष के जीवन का यह छठां महोत्सव था।[97] कान्यकुब्ज परिषद् के उपरांत यह महोत्सव होने वाला था। हुएनसांग चीन लौटने के लिए उत्सुक था किंतु हर्ष का अनुरोध वह अस्वीकार न कर सका और उसे यात्रा स्थगित कर महोत्सव में भाग लेने के लिए हर्ष के साथ प्रयाग जाना पडा। प्रयाग स्थित गगा-यमुना के संगम की भूमि परंपराओ मे अत्यधिक प्राचीन काल से ही दान की महान भूमि के रूप में विख्यात रही है। परंपराएं इस स्थल पर एक सिक्का का दान अन्य स्थलों पर सहस्त्रों के दान से अधिक उत्तम मानती आयी है। हर्ष ने भी इन्हीं भारतीय परंपराओं के अनुसार संगम को ही अपने महोत्सव का स्थान चुना था।

हुएनसांग के इस महोत्सव संबंधी विवरणों[98] के अनुसार महोत्सव प्रारंभ के पूर्व ही एक सहस्त्र वर्ग फीट के क्षेत्र को नरकुल की झाडियों से घेर दिया गया था। इस घेरे के मध्य में कई फूस के विशाल कमरे बनाये गये थे। इन कमरों में सोना, चांदी रत्नादि अत्यधिक मात्रा में संग्रहीत कर दिये गए थे।

अन्य अनेक कमरों में सूती तथा रेशमी कपडे, एवं चांदी-सोने के सिक्के भरे थे। विशाल घेरे से बाहर एक विशाल जलपान-गृह का निर्माण किया गया था। महोत्सव में भाग लेने वाले व्यक्तियों के रहने के लिए सौ भवनों का एक पंक्ति में निर्माण किया गया था। प्रत्येक भवन एक सहस्त्र व्यक्तियों के रहने के लिए पर्याप्त था। महोत्सव प्रारंभ होने से पूर्व ही हर्ष ने एक आदेश द्वारा समस्त श्रमण, ब्राह्मण, अनाथ तथा गरीब व्यक्तियों को दान का भाग प्राप्त करने के लिए निमंत्रण दे दिया था। हर्ष अपने आधीन 18 शासकों के साथ इस महोत्सव में भग लेने के लिए आया। वलमी नरेश ध्रुवसेन तथा भास्कवर्मन भी हर्ष के साथ थे। इन समस्त शासकों के शिविर पृथक-पृथक स्थानो पर निर्मित किये गये थे। विभिन्न नरेशों के साथ आने वाली सेनाओं के स्थान भी पूर्व ही निश्चित कर दिये गए थे। उन्हें प्रत्येक समय किसी भी दुर्घटना अथवा अनुशासनहीनता से उत्पन्न परिस्थिति का सामना करने के लिए तत्पर रहने की आज्ञा हर्ष ने दे दी थी। स्वयं हर्ष का भवन गंगा के उत्तरी तट पर निर्मित किया गया था। संगम के पश्चिमी तट पर ध्रुवसेन तथा यमुना के दक्षिणी तट पर भास्करवर्मन के भवन स्थित थे। ध्रुवसेन के भवन के पश्चिम दान प्राप्त करने वालों के ठहरने की व्यवस्था थी।

महोत्सव का प्रारंभ एक विशाल जुलूस से हुआ। जुलूस में हर्ष तथा उसके मित्र एवं आधीन समस्त शासक उपस्थित थे। महोत्सव के प्रथम दिन मुख्य क्षेत्र में निर्मित एक फूस के चैत्य में बुद्ध की मूर्ति स्थापित की गयी। बुद्ध की पूजा के उपरांत मधुर वाद्य यंत्रों की ध्वनि के साथ चारों ओर फूल बिखेरे गये और अत्यधिक बहुमूल्य कपड़े तथा अन्य वस्तुएँ वितरित की गई। दूसरे दिन आदित्य की मूर्ति दूसरे मंदिर मे स्थापित की गई। उसकी भी विधिवत पूजा की गई। इस दिन जो दान वितरित किया गया वह प्रथम दिन से आधा ही था। तीसरे दिन शिव की मूर्ति एक तीसरे मंदिर में स्थापित की गई और विधिवत पूजन के उपरांत द्वितीय दिन के समान ही दान-वितरण किया गया।

चौथे दिन चुने हुए दस सहस्त्र प्रमुख भिक्षुओं को दान दिया गया। प्रत्येक भिक्षु को फूल, गंध तथा विभिन्न खाद्य एवं पेय पदार्थों के अतिरिक्त

सौ मुद्रायें एक मोती तथा सूती कपड़े दिये गये। इसके पश्चात् बीस दिनो तक ब्राह्मण धर्मानुयायियों को दान वितरण किया गया। ब्राह्मणों के उपरांत दस दिनो तक विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों को दान दिया गया। निर्ग्रन्थ अथवा जैन धर्मानुयायियों ने इसके पश्चात् दस दिनो तक दान प्राप्त किया। अंत में अनाथ, गरीब तथा पारिवारहीन व्यक्तियों को दान वितरण किया गया। यह दान वितरण एक माह तक चलता रहा। अनाथ, गरीब आदि को दिये जाने वाले दान के साथ ही हर्ष द्वारा पाँच वर्षों में संचित समस्त संपत्ति समाप्त हो गई। उसने अपनी व्यक्तिगत समस्त संपत्ति भी दान में दे डाली। साम्राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक हाथी,, घोडे तथा सेना संबंधी अस्त्र-शस्त्र के अतिरिक्त उसके पास कुछ भी शेष न रहा। इस प्रकार सब कुछ दान कर देने के उपरांत हर्ष ने राज्यश्री से एक पुराना वस्त्र मंगाकर धारण किया और बुद्ध की पूजा की। इस समय हर्ष के खुशी की सीमा न थी। उसने दान द्वारा जिस प्रकार अपनी अपार संपत्ति की सुरक्षा का विश्वास प्राप्त कर लिया था उसका स्पष्टीकरण उसने स्वयं ही कर भी डाला। उसने कहा ''इन समस्त बहुमूल्य वस्तुओं तथा संपत्ति को एकत्र कर मुझे सदैव भय रहता था कि संभव है मै इन्हें छिपाकर रखने का पूर्ण सुरक्षित स्थान प्राप्त न कर सकूँ। अब मैंने उन्हें प्रसन्नता के क्षेत्र में रख दिया है, अतः मैं उन्हे सदैव के लिए सुरक्षित अनुभव करता हूँ।''[99]

हर्ष द्वारा आयोजित यह पंच वर्षीय दान-महोत्सव जहाँ दान के क्षेत्र मे विश्व की एक अनूठी घटना है वहीं हर्ष की विशाल सह्रदयता, मानवीयता तथा सहिष्णुता की पूर्ण परिचायक भी है। यह महोत्सव इस सत्य का प्रमाण है कि भारत में सदैव ही मानवीय भावनाओं का आदर हुआ है। धर्मान्धता उसके उदार तथा सहिष्णु-कलेवर को कभी अपने विष से विषाक्त न कर सकी। शासक भी वे चाहे जिस धर्म के अनुयायी क्यों न हो, अपने को सदैव प्रजा का सेवक मानकर उसकी सेवा करना, उसके जीवन को सुखमय बनाना तथा उसकी सहायता करना अपना कर्तव्य मानते थे। धर्म-प्रचारक के रूप में अपने धर्म की गाथाओं में ख्याति प्राप्त करने का प्रलोभन उन्हें कभी अपने मार्ग से न डिगा सका। हर्ष ने भी इन्हीं भारतीय परंपराओं को अपने कार्यों से सकारता प्रदान कर दी और साथ ही अपने मानवीय कार्यों से स्वयं के लिये

अमरता तथा बौद्ध धर्म के लिए महानता की उपाधि सहज ही मानवता से प्राप्त कर ली।

हर्ष का दान महोतसव संबंधी हुएनसांग का विवरण संभव है अक्षरश सत्य न हो। एक शासक द्वारा अपना संपूर्ण राजकोष दान में रिक्त कर देना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। संभवतः हुएनसांग ने दान में दी जाने वाली धनराशि की कमी कल्पना ही न की थी। जितना धन दान में दिया गया वह हुएनसांग की कल्पना में राजकोष का संपूर्ण धन ही रहा होगा। जबकि वस्तुतः वह राजकोष का केवल वह भाग ही रहा होगा जो दान के लिए प्रतिवर्ष निश्चित किया जाता होगा। हुएनसांग के विवरण में धन संबंधी शंका के अतिरिक्त अन्य किसी विवरण में लेशमात्र भी शंका की संभावना प्रतीत नहीं होती। हुएनसांग ने हर्ष की परोपकार के क्षेत्र में तुलना सुदत्त से की है। सुदत्त ने भारतीय कथाओं में अनाथपिण्डक के नाम से प्रसिद्ध है।[100] सुदत्त अनाथपिण्डक की उपाधि अनाथों के प्रति अपनी दयालुता के परिणामस्वरूप प्राप्त की थी। सुदत्त बौद्ध धर्मानुयायी था। उसने बौद्ध धर्म के प्रति अपार धनराशि व्यय की थी। चुल्लवग्ग-6/4/9 की एक कथा के अनुसार सुदत्त श्रावस्ती के राजकुमार जेत का एक उपवन जो नगर से न दूर था और न निकट, क्रय करना चाहता था। उसेन बुद्ध को राजगृह से श्रावस्ती आने का निमंत्रण दिया था और उस उपवन में उनके ठहरने के लिए एक विहार बनवाना चाहता था। वह राजकुमार के पास गया और उससे उपवन बेचने की प्रार्थना की। राजकुमार ने उपवन के मूल्य के रूप में सोने के सिक्के समस्त भूमि पर बिछा देने का प्रस्ताव किया। सुदत्त ने स्वीकृति दे दी। किंतु राजकुमार ने इस प्रस्ताव की स्वीकृति के उपरात भी उपवन विक्रय न करना चाहा। सुदत्त ने न्यायधीश के सम्मुख यह मामला प्रस्तुत किया और न्यायधीशों ने सुदत्त के पक्ष में अपना निर्णय दिया। अनाथपिण्डक ने उपवन पर सोने के सिक्के बिछाने आरंभ कर दिये। किंतु कुछ बाग पर सिक्के बिछा ही पाये थे कि राजकुमार ने शेष भूमि वैसे ही दे दी। सुदत्त अपने इस कार्य तथा दान संबंधी अन्य कार्यों के लिए बौद्ध साहित्य की अमर विभूति बन गया। हर्ष ने भी वृहत्त धनराशियां दान दी थीं और इस कारण सुदत्त से उसकी तुलना स्वाभाविक प्रतीत होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त

विवरणों से वर्द्धन वंश कालीन धर्म के संदर्भ में हमें पर्याप्त जानकारी मिल जाती है।

1-धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।

यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चय.।। -महाभारत, शांति पर्व, 109-अध्याय, 11-श्लोक।

2-अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनम कृतम्।

यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः।। -महाभारत, शांतिपर्व, 109-अध्याय, 12-श्लोक।

3-यतोभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।। -वैषेपिक सूक्त, 1/1 ।

4-अहिंसा परमोधर्मः।। -महाभारत, अनुशासन पर्व, 115-अध्याय, 1-श्लोक।

5-आचारः परमोधर्मः।। -मनुस्मृति, अध्याय-1, श्लोक-48।

6-अहिसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।

दान दमो दया शांतिः सर्वेषां धर्म साधनम्। -याज्ञवल्क्यस्मृति, आचार अध्याय, 122-श्लोक ।

7-श्रुति क्षमा दमोस्तेयं शैचमिन्द्रियर्निग्रहः।

धीविद्या सत्यमक्रोधोदशकं धर्मलक्षणम्।। -मनुस्मृति, 6-अध्याय, 12-श्लोक।

8-प्रभवाशीय भूताताां धर्मप्रवचनं कृतम्।

यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चय।। -महाभारत, शांतिपर्व, 109-अध्याय, 10-श्लोक।

9-धर्म शास्त्र का इतिहास (हिन्दी) भाग-1, पृ0-10, डा0 पाण्डुरंग वामन काणे।

10-लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः। -महाभारत, शांतिपर्व, 259-अध्याय, 5-श्लोक।

11-प्राच्य धर्म और पाश्चात्यविचार, पृ0-61, डा0 राधा कृष्णन्।

12-हर्ष, पृ0-153, यदुनंदन कपूर।

13-हर्षचरित, पृ0-855-56, बाण।

14-हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0-106, वासुदेव शरण अग्रवाल।

15-हर्ष, पृ0-154, यदुनंदन कपूर।

16-हर्षचरित, पृ0-282, बाण।

17-हर्ष, पृ0-156, यदुनंदन कपूर।

18-जीवनी, बील।

19-हर्षचरित, पृ0-277, बाण।

20- वही, पृ0-277 ।

21- वही, पृ0-278 ।

22- वही, पृ0-286-87 ।

23-हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0-58, वासुदेव शरण अग्रवाल।

24-हर्षचरित, पृ0-468, बाण।

25-हर्ष-पृ0-161, यदुनंदन कपूर।

26-हर्षचरित, पृ0-468, बाण।

27-पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणनीतया नम्रतां, शम्भोः सस्पृहलोचनत्रपथ यान्त्या तदाराधेन।

ह्रमत्या शिरसीहित सपुलकस्वेदोद्रमोत्कम्पया, विश्चिलष्यन्कुसुमाजंलिर्गिरिजया क्षिप्रोऽन्तरे

पार्तुवः।।1।। औत्सुक्येन कृत्वरा सभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया, तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः। दृष्टवाग्रे वरर्मान्तसाध्वसरसा गौरी नवे सगमे, संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु व ।। 2।।-रत्नावली, अंकप्रथम, पृ0-1-3, हर्ष।

28-हर्ष, पृ0-162, यदुनंदन कपूर।

29-तांत्रिकं वैदिकं मिश्रं त्रिधा पाशुमतं शुभम्।।

तत्पलिंगांकशूलादिधारणं तांत्रिकं मतम्।

लिंगांरूद्राक्षभस्मादि धारणं वैदिकं भवेत।।

रवि शंभुं तथा शक्ति विघ्नेशं च जनार्दनम्।।

यजन्ति सममावेन मिश्रं पाशुमतं हितंत्।। (श्रीकरमाष्य) -मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ0-36, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

30-पंचदेवों से अभिप्राय विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणपति की उपासना से है।

31-हर्षचरित, पृ0-312, बाण।

32-वही, पृ0-289 ।

33-मेगस्थनीज ने अपने वर्णन में वासुदेव के लिए हेरेकिल शब्द का प्रयोग किया है। विद्वान लोग हेरेकिल का अर्थ हरिकृष्ण या वासुदेव मानते है-गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग-2, पृ0-215, वासुदेव उपाध्याय।

34-''देवदेव वासुदेव का गरूडध्वज तक्षशिला निवासी दियस के पुत्र, भागवत हेलियदोरस से बनवाया गया, जो तक्षशिला के महाराज अंतलिसिदास के पास से यवनदूत होकर राजा काशीपुत्र भागमद्र त्राता के पास आया जिसके विधिष्णु राज्य चौदहवाँ वर्ष चल रहा था'' (वेसनगर उत्कीर्ण लेख)।

35-'रिलीजस लिट्रेचर ऑफ इंडिया, पृ0-143, फर्कुहर।

36-आर्किआलॅजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, 1911-12, पृ0-50 ।

37-गुप्त लेख नं0-4, 7, 10, 12, 13 आदि।

38-हंस· कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावो द्विजोन्तम।

वारतो नारसिंहश्चय वामनो राम एव च।

रामो दाशरथिश्चैव सारवतः कल्किरेव च'' -(महाभारत-शांति पर्व)

39-हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0-191, वासुदेव शरण अग्रवाल।

40- हुएनसांग यात्रा वर्णन, वाटर्स।

41-वही।

42-इत्सिंग एक चीनी यात्री था। यह 675 ई0 से लगभग 10 वर्ष तक नालदा विश्वविद्यालय का विद्यार्थी रहा। हुएनसांग 645 ई0 में भारत से चीन लौट गया था।

43-चार सत्यः- दु,ःख, दुःख का कारण, दुःख का परिणाम, दुःख का नाश। (इन चार सत्य संबंधी सिद्धांतों की व्याख्या विनय-समुत्कर्ष में की गयी है) बुद्ध

ने इन चार सत्यों की व्याख्या कर अपने धर्म का उपदेश सर्वप्रथम सारनाथ में कौंडिन्य,वप, भद्रिय, महानाम तथा अश्वजित को दिया था -उद्धृत, हर्ष-पृ0-170, यदुनंदन कपूर।

44-"रेकार्ड्स ऑफ दि बुद्धिस्ट रेलिजन-तककुसु, भूमिका, पृ0-15, इत्सिंग।

45- हुएनसांग -यात्रा विवरण, वाटर्स।

46-वही।

47-वही।

48-वही।

49-वही।

50-वही।

51-ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग, जिल्द-2, पृ0-1 ।

52-वही, पृ0-26 ।

53-वही, पृ0-63 ।

54-वही, पृ0-81 ।

55-वही, पृ0-87 ।

56-वही।

57-बंसखेडा-ताम्र पत्र लेख, एपिग्राफिका इण्डिका भाग-4, पृ0-208-11 ।

58-हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन-पृ0-65, वासुदेव शरण अग्रवाल।

59-कन्नौज का श्री हर्ष-पृ0-44 ।

60-रत्नावली, अंक-1, पृ0-5, श्री हर्ष।

61- रत्नावली अंक-4, पृ0-178 श्री हर्ष।

62-रत्नावली, अंक-1, पृ0-22-23, श्री हर्ष।

63-हर्षचरित, पृ0-699-705, बाण।

64-ऋग्वेद में कपोतों को यम और निकृति का दूत और उड़ता हुआ बाण कहा है। आश्वलायन ग्रहसूत्र में विधान है कि अगर जंगली कबूतर घर पर बैठे या घोसला बनावे तो देवः कपोत (कृ010/165/1-4-सूक्त से हवन करें।(हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन-पृ0-135, वासुदेव शरण अग्रवाल।

65-केशव के अनुसार कोटवी अम्बिका का एक रूप थी। वस्तुतः कोटवी दक्षिण भारत की मूल देवी कोद्दवै थी जिसका रूप राक्षसी था। पीछे वह दुर्गा या उमा के रूप में पूजी जाने लगी। बाण के समय में वह दुर्भाग्य की सूचक मानी जाने लगी थी।-हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन-पृ0-134, वासुदेव शरण अग्रवाल।

66-हर्षचरित, पृ0-463, बाण।

67-कादम्बरी के अनुसार यदि हिरण स्त्री की प्रदक्षिणा करता हुआ निकले तो यह स्त्री के लिए अशुभ सूचक है।-(प्रस्थितामिवानघीष्टदक्षिणवातमृगागमनम् ।)

68-वृहसंहिता के अनुसार कौवा का पूर्व की ओर देखते सूर्याभिमुख होकर बोलना राज-भय का द्योतक है (95/19)।

69-मुद्रा राक्षस में अमात्य राक्षस के अनुसार क्षपणक दर्शक अशुभ है (अंक-4)।

70-हर्षचरित, पृ0-147-50, बाण।

71-सदा दूध देने वाली गाय जिसके थनों के नीचे बछड़ा सदा चूँशता रहे। अथर्ववेद में ऐसी गाय को नित्यवत्सा कहा गया है। उसका ही प्राकृत रूप नैचिकी है।-हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन- पृ0-36, वासुदेव शरण अग्रवाल।

72-हर्षचरित, पृ0-708-9-बाण।

73-वही, पृ0-707-8 ।

74- वही, पृ0-372 ।

75-रत्नावली, अंक-2, पृ0-73, श्री हर्ष।

76-हर्षचरित, पृ0-465-68, बाणभट्ट।

77-दक्षिणं स्पन्दते चक्षुः फलाकांक्षा न में क्विचित।

न च मिथ्या मुनिश्चः कथियष्यति किं न्विदम्।। -नागानंद-अक-1, पृ0-23, हर्ष।

78-पुष्यभूतिसहजैव शैशवादारम्यानन्यदेवता भगवति, भक्ति-सुलभे भुवनभृति, भूतभावने....भक्तिरभूत। तथाहि-गृहे-गृहे भगवानपूज्यत खण्डपरथुः। -हर्षचरित, पुष्यभूतिवर्णन, तृतीय उच्छ्वास-बाणभट्ट।

79-च नृपतिरादित्यभक्तो बभूव। प्रतिदिनमुदये दिन कृतः स्नातः सितदुकूलधारी धवलकर्पटप्रावृतशिराः प्रांङ्मुख क्षितौ जानुभ्यां स्थित्वा कुकुंमपंकानुलिप्ते मण्डलके पवित्रपद्मराग पात्रीनिहितेन स्वहृदयनेव सूर्यानुरक्तेन रक्तकमलवण्डेननार्ध ददौ। अजपच्च जप्यं सुचरितः प्रत्युषसि मध्यदिने दिनान्ते चापत्यहेतोः प्राध्वं प्रयतेन मनसाजंजयकपूको मंत्र मादित्य हृदयम्।। भक्तजनानुरोधविद्ययानि तु भवन्ति देवतानां मनांसि। -हषचरित, चतुर्थ उच्छवास, बाण।

80-बंसखेड़ा ताम्रपत्र -लेख ऐपीग्राफिका इंडिका भाग-4, पृ0-208-11 ।

81-वृषांकम् अभिनवघटितां हाटकमयीं मुद्राम्... हर्षचरित, पृ0-713, बाण।

82-हर्षचरित, पृ0-708, बाणभटट।

83-रत्नावली, अंक-1, पृ0-1-4, श्री हर्ष।

84-नागानंद-अंक-1, पृ0-1-5, हर्ष।

85-हुएनसांग-यात्रा विवरण-वाटर्स।

86-स्वर्गतस्य ग्रहवर्म्मणे बालमित्रं -हर्षचरित, पृ0-844-बाणभटट।

87-काशायग्रहणम्यनुज्ञया अनुग्रहयतामयम् अपुण्यभाजनमं जनः।-हर्षचरित, पृ0-916, बाणभट्ट।

88-"भातृबधापकारिरपुकुलप्रलयकरणोधतस्य वाहोर्विधेयैः भूत्वाः सकललोक प्रत्यक्षं प्रतिज्ञां प्रतिज्ञांकृताः... अस्मत् पाश्वौपयायिनीमेव प्रतिबोध्यमानाम् इच्छाभिः इयन्तु ग्रहीष्यति मयैव समं समाप्तप्रकृत्येन काषायाणि," हर्षचरित, पृ0-932-34, बाणभट्ट।

89-वही, पृ0-814 ।

90-हर्ष, पृ0-184, यदुनंदन कपूर।

91-जीवनी-बील।

92-हुएनसांग यात्रा विवरण, वाटर्स।

93-वही।

94-हर्ष, पृ0-189, यदुनंदन कपूर।

95-पश्चिमी जगत के अपने अनुभवों को हुएनसांग ने सी-यू-की नामक पुस्तक में संग्रहीत किया था।

96-जीवितावधिगृहीतसर्व्वस्वमहादानदीक्षेचीरेनेव... हर्षचरित, पृ0-199-बाणभट्ट।

97-हुएनसांग यात्रा विवरण, वाटर्स।

98-वही।

99-हर्ष, पृ0-192, यदुनंदन कपूर।

100-वही, पृ0-193 ।

पंचम अध्याय

हर्षवर्द्धन के शासन काल का मूल्यांकन

पंचम अध्याय

हर्षवर्द्धन के शासनकाल का मूल्यांकन

किसी भी शासक के संपूर्ण शासनकाल का मूल्यांकन उसके सर्वांगीण विकास के द्वारा ही किया जाता है और विकास शासक के न्यायप्रिय, निष्पक्ष, सहिष्णु, कर्तव्यनिष्ठ एवं नीति-निपुण होने पर ही होता है। वास्तव में शासन के सुसंचालन में अच्छे शासक का सदा से महत्वपूर्ण योगदान रहा है। राजधर्म के ज्ञान से रहित शासक के शासन में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और मत्स्यन्याय की तरह बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खाने लगती हैं।

प्राचीन भारतीय समाज में सदा से राजतंत्र का प्रभाव रहा है किंतु कही भी अधिनायकवाद की स्थिति नहीं देखी गयी है क्योंकि राजा प्रजा (समाज) का रंजन करने वाला, सुरक्षा करने वाला और परिपालन करने वाला होता था। राजा यदि प्रजा की रक्षा न करे तो अशांति होने पर अराजकता हो जाती है "यदि राजा या शासक समाज की रक्षा न करे तो विवाह संस्कार जैसे कार्य न हों, और सभी सामाजिक कार्य बंद हो जायें।"[1] इतना ही नहीं अपितु राजा के न होने पर कहीं शांति और सुरक्षा की आशा नहीं की जा सकती है। "यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो चोर और लुटेरे हाथ में रखी हुयी वस्तु को भी छीन ले जायें, सारी मर्यादाएं टूट जायें, सब लोग भय से पीडित हो जायें और इधर-उधर भागते फिरें।"[2] महाभारत मे अराजक स्थिति का इस प्रकार वर्णन है। "अराजकता वाले राष्ट्र में धर्म की स्थिति विगड़ जाती है, उस राष्ट्र की जनता परस्पर एक दूसरे को खाने लगती है। अतः उस देश को सर्वथा धिक्कार है।"[3]

गुप्त साम्राज्य की भांति वर्द्धन शासन काल भी सुशासन के संचालन और सर्वतोमुखी विकास के कारण अत्यधिक ख्याति पर रहा है। अपने त्यागमय और लोक-कल्याणकारी कार्यों के कारण प्राचीन भारतीय इतिहास में सम्राट् हर्षवर्द्धन का महत्व केवल महान विजेता होने के कारण ही नहीं है अपितु

उसने अपने शांतिमय कार्यों के कारण ही चिरस्थायी ख्याति प्राप्त की। सम्राट् हर्षवर्द्धन के लोक-कल्याणकारी कार्यों का सही मूल्यांकन चीनी यात्री हुएनसांग ने किया है क्योंकि वह भारतवर्ष में सोलह वर्षों तक रहा और प्रायः संपूर्ण भारत में उसने भ्रमण भी किया था। वह सम्राट् हर्षवर्द्धन के निकट सम्पर्क में भी अतिघनिष्ट रूप में रहा है।

इस प्रकार सम्राट् हर्षवर्द्धन के शासनकाल का मूल्यांकन करते समय हमने समग्र दृष्टिकोण अपनाते हुए उसके द्वारा किए गए सम्पूर्ण कार्यों का संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। विदग्ध राजनीतिमत्ता, विजिगिषु प्रकृति, कुशल शासन-संगठन, विद्यानुराग, धर्मनिष्ठा एवं धर्म सहिष्णुता, सदाशयता, दानशीलता एवं प्रजावत्सलता के कारण सम्राट् हर्ष भारत के चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक महान, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा मुगल शासक अकबर जैसे महान एवं यशस्वी शासकों की श्रृंखला में खड़े किये जा सकते हैं। पुराविद् के0 एम0 पन्निकर लिखते हैं, "हर्ष की तुलना प्रायः अशोक से की जाती है लेकिन दोनों में केवल उपरी समता है। तुलनामात्र इस दृष्टि से की जाती है कि दोनों बौद्ध धर्म के संरक्षक थे। पर इसमें भी प्रियदर्शी की धार्मिक प्रचण्डता तथा प्रचार के प्रति उत्कठ अभिलाषा तथा हर्ष की अतिशय उदारता में कोई समानता नहीं है। बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद अशोक ने अपना संपूर्ण जीवन धर्म के प्रचार-प्रसार मे लगा दिया और विरोधी धर्म के विचारों में कभी हस्तक्षेप नहीं किया। इसके विपरीत हर्ष ने अपने दरबार में धार्मिक विवाद में एक अनुरागी के अलावा कोई रूचि न ली न दान के अतिरिक्त किसी अन्य विधि से अपने धर्म की सहायता करने का प्रयास किया। अशोक की अपेक्षा अकबर से तुलना अधिक उपर्युक्त है। महान् मुगल सम्राट् की भांति हर्ष ने सभी को धार्मिक सहिष्णुता प्रदान की। सभी धर्मों के मुख्य विद्वानों से विवाद किया और उसकी भांति धर्म की उँची पुकार के प्रति विरक्त था। इबादत खाना के विवादों की भांति हर्ष के दरबार के विवादों का भी कोई परिणाम नहीं निकल सकता था। स्पष्ट त्रुटियों के होते हुए भी वह एक उदार शासक था। भारत के महान शासकों में उसका नाम गिना जाना चाहिए। यह हर्ष का गौरव था कि वह चन्द्रगुप्त मौर्य से प्रारंभ होने वाली हिंदु शासकों की परंपरा का अंतिम शासक था जिसके समय में

विश्व ने भारत को एक प्राचीन तथा महान सभ्यता के केन्द्र रूप मे ही नहीं बल्कि मानवता की उन्नति के लिए कार्यशील एवं सुव्यवस्थित तथा शक्तिशाली राज्य के रूप में भी देखा। यह संदिग्ध रहित है कि शासक, कवि और धार्मिक उत्साही के रूप में हर्ष का सदैव एक सम्माननीय स्थान बना रहेगा।"

आर0 के0 मुकर्जी के अनुसार "हर्ष में अशोक तथा समुद्रगुप्त के लक्षण विद्यमान थे।" अन्यत्र आपने लिखा है कि "वह भारत के महानतम शासकों में था, जिसने अपनी विजयों के बल पर अपने को एक सर्वोच्च अर्धीश्वर एवं सम्राट् बना लिया तथा उत्तर भारत के अधिकाश भाग को एक राजनीतिक सूत्र में आबद्ध किया।" एच0 जी0 राविल्सन के अनुसार, "हर्ष का व्यक्तित्व विलक्षण था। भारत के महान शासकों में वह अशोक तथा अकबर के समकक्ष है। एक सैनिक, प्रशासक, अद्वितीय प्रजावत्सल, दयावान, सदाशयी,, साहित्य के संरक्षक तथा स्वयं एक कुशल कवि एवं नाटककार के रूप में इतिहास के पन्नों में उसका स्थान अत्यंत शानदान तथा चित्ताकर्षक है।" रमाशंकर त्रिपाठी के अनुसार, "सातवीं शताब्दी ई0 का प्रारंभ राजनीतिक रंगमंच पर एक ऐसे व्यक्ति के अभ्युदय से हुआ जिसमें न तो अशोक के सदृश्य ऊँचा आदर्श था, न धर्म प्रचार की भावना, न अकबर जैसा प्रभावशाली व्यक्तित्व, एवं संरचनात्मक राजनीतिमत्ता तथापि इतिहासकारों का ध्यान इन दोनों शासकों की भांति आकर्षित करने में वह सफल रहा।" अन्यत्र आपने लिखा है कि "यद्यपि हर्ष में न तो अशोक का उँचा आदर्शवाद था न चन्द्रगुप्त मौर्य का युद्ध कौशल ही तथापि इतिहासकारो को वह इन्ही दोनों नृपतियों की भांति आकृष्ट करने में सफल रहा।"

आर0 सी0 मजूमदार के अनुसार, "यह अनुमान करना पूर्णतया गलत है, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है, कि हर्ष हिन्दु काल का अंतिम महान साम्राज्य निर्माता है और उसकी मृत्यु उत्तर भारत की राजनीतिक एकता स्थापित करने की सफल कोशिशों की समाप्ति का सूचक है। वास्तव में अगली पाँच शताब्दियों में उत्तर भारत में कई ऐसे नये राज्य उठे और गिरे जो किसी भी दृष्टि से हर्ष के साम्राज्य से कम नहीं थे और उनमें से कुछ, जैसे प्रतिहारों का साम्राज्य, तो हर्ष के साम्राज्य से भी बड़े और स्थायी थे। इसलिए यद्यपि यह मानना तो व्यर्थ है कि भारतीय इतिहास में हर्षवर्द्धन का

राज्यकाल किसी भी रूप में एक विशिष्ठ युग या युगान्तर है, पर यह कहे बिना नहीं रह सकते कि वह एक महान शासक, वीर सेनापति, कला-साहित्य का उदार संरक्षक तथा उदात्त भावनाओं और श्रेष्ठ व्यक्तित्व वाला मनुष्य होने के कारण हमारी प्रशंसा एवं श्रद्धा का पात्र है।''

बी0 एन0 शर्मा लिखते हैं कि ''हर्ष भारत के महान शासकों में एक है। उसमें चन्द्रगुप्त मौर्य के समान सैनिक योग्यता, अशोक के समान सहिष्णुता, समुद्रगुप्त के समान राजनीतिमत्ता तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समान प्रबुद्ध आचरण था। एक महान सेनानायक, विजेता एवं साम्राज्य निर्माता, न्यायविद् तथा कुशल प्रशासक, साहित्य एवं संस्कृति का महान संरक्षक तथा आदर्श एवं उदात्त विचार संपन्न और इससे भी अधिक अदम्य आचरण एवं बहुमुखी व्यक्तित्व के कारण उसने विशिष्ट ख्याति अर्जित की।''

डी0 देवहूति के अनुसार , ''विभिन्न धर्मों के प्रति उसके ज्ञान एवं सूझ-बूझ, उसकी उल्लेखनीय परोपकारी प्रवृत्ति, ज्ञानपिपाशा, साहित्यिक तथा कलात्मक उपलब्धियाँ सभी उसे एक योगय शासक प्रमाणित करती है। हर्ष एक महत्वाकांक्षी,, अध्यवसायी,, अविश्रांत सेनानी,, सहिष्णु , विजेता तथा नीतियो के महान अविष्कर्ता न होते हुए भी एक कुशल एव योग्य प्रशासक तथा शान-शौकत प्रिय थे। प्राधिकारी शक्ति, उदार भावना एवं साहित्य तथा कला के प्रति अभिरूचि जनित भावना के समन्वय से उनका व्यक्तित्व अत्यंत संतुलित था।'' बी0 एन0 श्रीवास्तव के अनुसार ''एक अत्यंत अशांति एवं अराजकता के काल के उपरांत उसने जो विजयें की तथा देश को जो एकता के सूत्र में आबद्ध किया उससे इतिहासकार स्वतः उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। यह श्रेय इस दृष्टि से और अधिक महत्वपूर्ण है क्योकि हर्ष को उत्तराधिकार रूप में कुछ खास नहीं मिला था। उसने स्वयं अपने बल अपने साधनों का संग्रह किया जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय इतिहास में एक शानदार व्यक्ति के रूप में उसने अमरकीर्ति अर्जित की।''

हर्ष के व्यक्तित्व के विविध पक्षों का मूल्यांकन करते हुए प्रो0 श्रीराम गोयल ने लिखा है-''कि कुल मिलाकर हर्ष की उपलब्धियाँ उसकी व्यक्तिगत उपलब्धियाँ थीं। वह महान दानी था, शायद विद्वान भी था, युद्धवीर तथा

वीणावादन में कुशल था परन्तु उसमें न तो राजनीतिक दूरदर्शिता थी, न अपने युग की प्रवृत्तियों को नया मोड़ देने की क्षमता, न प्रशासन की बारीकियों में जाने का उत्साह। हर्ष की रूचि मात्र युद्धों में थी, प्रशासन में नहीं। युद्धों के अतिरिक्त उसने केवल पंच वार्षिक दानपत्र और परिषद् आयोजित करने में रूचि ली। इसलिए उसके द्वारा निर्मित साम्राज्य सफल न सिद्ध हुआ।"

हर्ष के संबंध में इतिहासकारों के उक्त तथा इसी प्रकार के अन्यानेक निर्वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके व्यक्तित्व के संबंध में इतिहासकारों की धारणायें एक नहीं हैं। कुछ ने हर्ष की तुलना अशोक से की तो दूसरे ने अकबर से। कुछ ने उसे महान विजेता, साम्राज्य निर्माता एवं कुशल प्रशासक स्वीकार किया तो दूसरे ने उसके विजेता होने में संदेह व्यक्त करते हुए उसे अदूरदर्शी एंव अकुशल प्रशासक माना। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने उसकी धर्म निष्ठा, धार्मिक सहिष्णुता, दानशीलता तथा सदाशयता की प्रशंसा की तो दूसरों ने उसके बौद्ध धर्म के प्रति पक्षपातपूर्ण झुकाव तथा दानशीलता की आलोचना की। प्रश्न है, हर्ष के संबंध में ये निर्वचन कहाँ तक उचित है? इस प्रश्न के समुचित उत्तर के लिए हमें नये सिरे से हर्ष के व्यक्तित्व तथा उसके शासन काल का परीक्षण करना होगा।

क्या कोई शासक अपनी अभूतपूर्व सैनिक क्षमता, पराक्रम अथवा सैन्याभियानों एवं अगणित विजयों के बल पर इतिहास में महान शासकों की श्रृंखला मे स्थान पा सकता है? उत्तर नकारात्मक होगा। क्योकि यदि ऐसा होता तो अतीत के असीरियन शासक भी, जो बहुत बडे विजेता तथा साम्राज्य निर्माता थे, इतिहास के महान शासकों में गिने जाते, पर ऐसा नहीं हुआ। इतिहास उनका स्मरण मात्र क्रूर विजेता एवं निरंकुश शासक के रूप में ही करता है। बाद में तो उनकी अभीष्ट देव असुर को 'रक्षस' का प्रतीक मान लिया गया। इसी प्रकार कोई शासक महान शासक होने का हकदार मात्र इसलिए नहीं बन सकता कि उसमें अभूतपूर्व शासन संगठन की क्षमता थी तथा उसकी सैनिक शक्ति अपरिमित तथा सुगठित थी। क्योंकि यदि ऐसा होता तो फारस के दारा तृतीय की गणना भी विश्व के महान शासकों में की जाती। इसी प्रकार कोई भी शासक मात्र धर्मनिष्ठा तथा उदारता के बल पर महान

शासकों की कोटि में नहीं रखा जा सकता। प्राचीन काल में मिश्र का इख्नाटन अत्यंत धर्मनिष्ट तथा एक विशेष धर्म, जिसे एकदेववाद कहा गया है, का अनुयायी था। पुष्यमित्र शुंग तथा कनिष्क, जैसे कुछ भारतीय शासक भी अत्यंत धर्मनिष्ठ थे। पर इसके कारण इन्हे कोई विशेष प्रतिष्ठा नहीं मिली। इख्नाटन को मिश्रवासियों ने एक नास्तिक राजा घोषित किया तथा पुष्यमित्र शुंग पर बौद्धों के प्रति अन्याय करने का दोष मढ़ा गया। कनिष्क विदेशी होकर भी परम बौद्ध था तथा उसके प्रचार-प्रसार के लिए बहुत कुछ किया पर वह भी भारत के महान शासकों में स्थान न पा सका। इसी प्रकार कोई शासक मात्र उच्चकोटि के कवि, कलाप्रेमी, तथा साहित्य एवं कला के उदार संरक्षक होने के नाते महान शासक नहीं बन सकता। ग्यारहवीं शती के पूवार्द्ध में शासन करने वाले धारा नरेश भोज सुकवि, धुरन्धर विद्वान तथा विद्वतजनों के पोषक थे। उनकी राजसभा में अनेक विद्वान एवं कवि ही नहीं, प्रत्युत उनके साथ अनेक कवियित्रियाँ तथा विदुषियाँ भी रहती थीं। भोज ने भास्कराचार्य के पिता भास्करभट्ट को विद्यापति उपाधि प्रदान की थी तथा इनके दरबार में काव्य, ज्योतिष, दर्शन, अलंकार, धर्मशास्त्र आदि विषयों की समीक्षा तथा सैद्धान्तिक विषयों का निरूपण किया जाता था। भोज के नाम से अनेक कृतियाँ सुविदित हैं यथा कामधेनु, युक्तिकल्पतरू, श्रृंगारमंजरी कथा, शब्दानुशासन, समरांगणसूत्रधार आदि। यद्यपि वर्तमान समय में अभी यह सुनिश्चित नहीं हो सका है कि ये कृतियाँ भोजराज की अपनी कृति हैं या इसके सभासदों की। पर इसकी विद्वता तथा विद्वानों के सरक्षक होने में तनिक भी संदेह नहीं रह जाता। भोज भारतीय इतिहास में अपनी दानशीलता के लिए भी सुविदित हैं। इनके बारे में भोजप्रबंध के रचयिता बल्लाल ने लिखा है कि ये अपनी सभा में रहने वाले विद्वानों एवं कवियों को उनके श्लोकों के लिए एक-एक लाख रूपये प्रदान करते थे। पर भोज की गणना भारत के महान शासकों में नहीं की जाती। इसी प्रकार मतविलासप्रहसन के रचयिता महेन्द्रवर्मा तथा गाथासप्तशती के रचयिता हाल भी कुछ कम विद्वान नहीं थे। पर इनमें से किसी को चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, अकबर आदि की कोटि में नहीं रखा गया। वास्तव में कोई भी शासक महान शासकों की श्रृंखला में तभी स्थान पा सकता है जब वह कुशल राजनेता, विजेता, साम्राज्य निर्माता, शासन

संगठनकर्ता के साथ-साथ धर्मनिष्ठ, उदार, प्रजावत्सल, विद्वानो का आश्रयदाता हो तथा अपने समस्त क्रिया-कलापों से जनसाधारण में मानवता, भातृप्रेम एवं परस्पर सौमनस्य एवं सौहार्द उत्पन्न करने में सफल हो। वह उस युग के सांस्कृतिक समुन्नयन एवं समुत्कर्ष में अमिट योगदान करे ताकि भावी पीढियों के लिए वह आदर्श बन सके।

पिता प्रभाकरवर्द्धन की अकास्मिक मृत्यु, माता यशोमती के आत्मदाह, कान्यकुब्ज में बहनोई ग्रहवर्मा की दुःखद हत्या, राज्यश्री के कैद कर लिये जाने तथा अग्रज राज्यवर्द्धन की शशांक द्वारा छलपूर्वक हत्या, जैसी विपत्ति की क्रमिक घटनाओं से स्थाण्वीश्वर विपत्ति के जिस विशाल भंवर मे फस गया था उससे उबर पाना साधारण कार्य न था, विशेषतया हर्ष के लिए, जो अभी मात्र सोलह वर्ष का किशोर था और जिसके सीमावर्ती प्रांतों से संबंध कटु थे और जिनसे उसकी सैनिक कार्यवाही भी चल रही थी। पर इन विषम परिस्थितियों में भी अनुभवशून्य किशोर हर्ष ने इस प्रतिज्ञा के साथ कि "यदि कुछ दिनों में धनुष चलाने की चपलता के घमण्ड में भरे हुए समस्त उद्धत राजाओं के पैरों को बेड़ियो की झंकार से पूर्ण करके पृथ्वी को गौडो से रहित न कर दूँ तो घी से घधकती अग्नि में पतंग की भांति अपने पातकी शरीर को जलाकर भस्म कर दूँ," राज्यग्रहण कर पूर्वगामी नृपतियों के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए दिग्विजय के लिए जो प्रस्थान किया, उसमे अधिकाशतः वह सफल रहा। यह उसकी उत्कृष्ट राजनीतिमत्ता का परिचायक है। यदि इस समय हर्ष किंचित भी विचलित हो गया होता तो उत्तर भारत का इतिहास कुछ दूसरा रूप ही लिए होता, क्योंकि ऐसा होना किसी निःसहाय तरूण के लिए लिए अस्वाभाविक कदापि नहीं था। हूणों को परास्त कर वापस आने पर भी मात्र पितृशोक से संतप्त राज्यवर्द्धन ने राज्य त्याग कर वल्कल धारण करने का निश्चिय कर लिया था। और यदि इस समय कान्यकुब्ज से दुःखद समाचार न मिलता तो शायद वह अपने निश्चय पर अडिग भी रहता। पर हर्ष तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद भी कर्तव्य से विचलित न हुआ और स्कन्दगुप्त तथा पुलकेशी द्वितीय की भांति न केवल विचलित कुललक्ष्मी की रक्षा की प्रत्युत्त स्थाण्वीश्वर के एक छोटे से पैतृक राज्य को कान्यकुब्ज

के एक विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया। हर्ष के एक महान राजनेता होने का यह अत्यंत सबल प्रमाण है।

हर्ष भारत के उन महान शासकों में है जिनका संपूर्ण जीवन सैन्याभियानों एवं विजयों में व्यतीत हुआ। राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद पारम्परिक रूप से हर्ष थानेश्वर के जिस राज्य का उत्तराधिकारी बना था वह अत्यंत संकुचित था क्योंकि उसमें आधुनिक हरियाणा, दिल्ली, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, तथा उत्तरी राजस्थान के कुछ भाग ही सम्मिलित थे। पर अपने सैन्याभियानों तथा विजय योजनाओ द्वारा सम्राट् हर्ष ने इसे उत्तर भारत के अति विस्तृत साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया। गौड़ों से पृथ्वी को निर्मूल करने की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए हर्ष ने जिस सैन्याभियान का श्रीगणेश किया उसमें फिर उसके उपरांत शासनान्त तक कहीं विराम न आया। एक मात्र दक्षिण भारत के चालुक्य नृपति पुलकेशी द्वितीय को छोडकर उसे कहीं भी असफलता नहीं मिली। इस अभियान में भी हर्ष पराजित अवश्य हुआ पर सांमतों की कुछ सेना की क्षति के अतिरिक्त उसका कोई विशेष क्षति न हुई। डा0 आर0 सी0 मजूमदार जैसे कुछ इतिहासकार हर्ष के युद्ध कौशल तथा राजनीतिमत्ता के विषय में संदेह व्यक्त करते है। आपके अनुसार, "हर्ष महान एवं शक्तिशाली सम्राट् तो था पर उसके युद्ध कौशल तथा राजनीतिमत्ता के विषय में सही-सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। उसके जोड़ी के दो शत्रु थे-शशांक तथा पुलकेशी द्वितीय। इसमे एक के विषय में उसकी उपलब्धियाँ ज्ञात नहीं है तथा दूसरे से वह निर्णायक रूप से पराजित हो गया था।" पर हर्ष के संबंध में विद्वान लेखक के निर्वचन यौक्तिक नहीं प्रतीत होते। शशांक को 627 ई0 के आस-पास हर्ष ने निर्णायक रूप से पराजित किया था। जहां तक चालुक्य नृपति पुलकेशी द्वितीय का प्रश्न है, यद्यपि इसमे हर्ष निर्णायक रूप से सफल न रहा पर यह मात्र आक्रमणात्मक असफलता थी, क्योंकि इसमें पराजित होने के बाद भी उसके क्षेत्रीय विस्तार में कोई कमी न आयी। इसका एक मात्र यह परिणाम रहा कि दक्षिण भारत की ओर उसका प्रवाह अवरूद्ध हो गया। इससे उसके साम्राज्य विस्तार में कोई बाधा न पड़ी। अनेक पड़ोसी एवं सीमावर्ती शसक्त शक्तियों के दर्प को चूर करने वाला सम्राट् हर्ष यदि दक्षिण के एक शासक के विरूद्ध असफल ही रहा तो उसमें कौन-सा आश्चर्य है। इस

संघर्ष में सफलता की डींग रोकने वाला पुलकेशी द्वितीय भी तो इस युद्ध के बाद कभी उत्तर भारत की ओर बढ़ने का साहस न कर सका जहाँ तक पराजय का प्रश्न है, भारत के अनेक महान शासक उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त मौर्य तथा पुलकेशी द्वितीय, पश्चिम एशिया में एक महान साम्राज्य के संस्थापक दारा प्रथम तथा आधुनिक यूरोप के नेपालियन भी सदा अजेय न रहे। सिकंदर के हाथों पराजित होकर भी भारतीय शासकों में अग्रगण्य पोरस की कीर्ति में तनिक भी कमी न आयी। अस्तु, कह सकते हैं कि पुलकेशी के विरूद्ध असफल होकर हर्ष ने अजेय शासक होने का गौरव अवश्य खो दिया पर इससे इसके व्यक्तित्व में कोई न्यूनता न आयी। मात्र एक असफलता के आधार पर ही हम इसे महान विजेता न मानने की भूल नहीं कर सकते।

हर्ष का पैतृक राज्य अत्यंत संकुचित था क्योंकि इसमें हरियाणा, दिल्ली, पंजाब, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तरी राजस्थान के कुछ भाग ही सम्मिलित थे। पर अपनी नीतिमत्ता , विजिगेषु नीति तथा सैन्याभियानों के द्वारा एक-पर-एक राज्यों एवं प्रदेशों को जीत कर हर्ष ने इसे उत्तर भारत के एक विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया जिसमें उसके पैतृक राज्य के साथ-साथ उत्तर प्रदेश तथा बिहार ही नहीं, प्रत्युत्त उत्तर भारत के अधिकांश भू-भाग सम्मिलित हो गये। इस प्रकार उसने अपने अप्रतिम पराक्रम एवं कुशल सैन्य संचालन द्वारा न केवल विरोधी एवं पार्श्ववर्ती शक्तियों का दमन किया प्रत्युत्त उन्हे किसी न किसी रूप में अपने प्रभाव परिधि में लाने में भी सफलता प्राप्त की। उसके सैन्याभियानो का उद्देश्य केवल शक्तियों को आतंकित करना ही नहीं, बल्कि उन पर अपना अधिपत्य स्थापित करना भी था उसके युद्ध का उद्देश्य युद्ध नहीं प्रत्युत्त साम्राज्य विस्तार करना था और संयोग से इसमें वह पूर्णतया सफल रहा।

सम्राट् हर्ष एक महान कूटनीतिज्ञ एवं दूरदर्शी शासक थे। उनमें अवसर को पहचानने की अप्रतिम शक्ति थी। मालवराज एवं शशांक के विरूद्ध प्रयाण करते समय कामरूप के सशक्त शासक भास्करवर्मन के मैत्री प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करना, वलभी शासक ध्रुवभट्ट को पराजित कर भी उससे मित्रता स्थापित करना तथा कन्नौज के मंत्रियों के उस आग्रह, जिसमें उन्होंने हर्ष से

राजगद्दी ग्रहण का प्रस्ताव किया था, को स्वीकार करने के लिए बोधिसत्व से आज्ञा लेने का उपक्रम करना हर्ष की महान राजनीतिमत्ता एवं दूरदर्शिता का परिचायक है। इससे यदि एक ओर उसने कान्यकुब्ज में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर गंगाघाटी को राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बनाया तो दूसरी ओर कामरूप के शासक से मैत्री संबंध स्थापित कर पूर्व मे बंगाल के शासक शशांक के विरूद्ध अपने को मजबूत किया। इसी प्रकार वलभी शासक ध्रुवभट्ट को पराजित कर भी उससे मित्रता स्थापित कर हर्ष ने दक्षिणापथ के शासक पुलकेशी द्वितीय के विरूद्ध एक सशक्त मोर्चा बनाया। जब उसने देखा कि पुलकेशी द्वितीय फारसी शासक के साथ गठबंधन कर रहा तो उसने तत्काल उसके प्रतिकार में चीन के साथ मित्रता का हाथ बढ़ाया।

प्रो0 श्रीराम गोयल जैसे विद्वान का विचार है कि हर्ष की राजनीतिक दृष्टि दूरगामी नहीं थी। उसकी उत्तरी पश्चिमी सीमा नीति अदूरदर्शितापूर्ण थी। उसका अभ्युदय हरियाण प्रदेश में हुआ था। पर उसने अपनी राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र गंगाघाटी को बनाया पंजाब को नहीं। आपके अनुसार प्रारंभ में तो घटनाक्रम ऐसा रहा कि उसे पूर्व की ओर उन्मुख होना पडा पर बाद में वह पंजाब की ओर ध्यान दे सकता था पर उसने ऐसा नहीं किया। इसी प्रकार उसकी हिमालय विषयक नीति भी बुद्धिमत्तापूर्ण न थी। पर यदि तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में इन तथ्यों पर विचार किया जाय तो सम्राट् हर्ष को इन आक्षेपों से कुछ सीमा तक मुक्त किया जा सकता है। गंगाघाटी सदा से अपनी आर्थिक संपन्नता के लिए प्रसिद्ध रही है। स्थाण्वीश्वर से कन्नौज आ जाने से तथा गंगाघाटी में अपनी शक्ति के विस्तार का अवसर पा जाने से हर्ष का ध्यान स्वाभाविक रूप से इस ओर ही केन्द्रित हुआ होगा। गंगाघाटी को केन्द्र मानकर हर्ष सफलतापूर्वक अपने साम्राज्य का विस्तार पूर्व तथा दक्षिण की ओर कर सकता था जबकि स्थाण्वीश्वर अथवा पंजाब से यह कार्य करने में उसे असुविधा हो सकती थी। वलभी,, बादामी, तथा पूर्व में कांगोद तक, स्थाण्वीश्वर की अपेक्षा इस प्रदेश से बढ़ना सरल था। हर्ष का मुख्य लक्ष्य शशांक का मान-मर्दन था जो स्थाण्वीश्वर की अपेक्षा कान्यकुब्ज से आसानी से हो सकता था। रही बात उसकी पश्चिमी सीमा प्रांतों की तो इस संबंध में हम कह सकते है कि हर्ष इस दिशा से पूर्णतया उदास नहीं था।

कान्यकुब्ज के पश्चिम स्थित अनेक राज्य जैसे-मतिपुर, मथुरा, परियात्र, जालंधर तथा बह्मपुत्र हर्ष के साम्राज्य में सम्मिलित थे तथा इनके संगठन के लिए, जैसा कि देवहूति ने सुझाया है, वह पश्चिम की ओर बढा था। यह दूसरी बात है कि वर्तमान समय में हम यह नहीं जानते कि हर्ष का इनसे कोई संघर्ष हुआ था अथवा नहीं। सिंधुराज के विषय में कुछ लोगों की मान्यता है कि उसने इसे पराजित किया था पर बाद में इसे स्वतंत्र कर दिया था। स्वयं गोयल महोदय ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि हर्ष ने सिंधुराज को पराजित किया था तथा कुछ धन वसूला था। इसी प्रकार हिमवत्प्रदेश में हो रही घटनाओं के प्रति उदासीनता की बात भी यौक्तिक नहीं प्रतीत होती। क्योंकि नेपाल पर हर्ष के अधिकार के विवादास्पद होने के बावजूद भी, किसी पार्वत्य प्रदेश की राजकन्या के कर ग्रहण की घटना से इसका प्रत्याख्यान हो जाता है कि हर्ष इस प्रदेश से उदासीन था। ऐसी स्थिति में हम हर्ष को इन आक्षेपों से मुक्त कर उसे एक नीतिनिपुण तथा दूरदर्शी शासक स्वीकार कर सकते हैं।

किसी भी साम्राज्य के स्थायित्व के लिए कुशल शासन आवश्यक होता है क्यांकि इसके आभाव में बडा से बड़ा साम्राज्य भी धराशायी हो जाता है। संयोग से हर्ष भी अपने को भारत का एक कुशल शासन संगठनकर्ता साबित कर दिया। यद्यपि इसने शासनतंत्र एव उससे संबंधित बहुत सी बाते स्पष्टत· विदित नहीं हैं तथापि हर्षचरित एवं कादम्बरी, चीनी यात्री के विवरण तथा अन्य समकालीन तथा परवर्ती श्रोतों से इसका जो वृतांत उपस्थित होता है उससे ज्ञात होता है कि हर्ष एक कुशल शासन संगठनकर्ता था और इस क्षेत्र में उसने पर्याप्त पटुता, राजनीतिक कुशलता एवं व्यावहारिकता का परिचय दिया। यद्यपि शासक का स्वरूप राजतंत्रात्मक था जिसमें राजा को सर्वोपरि महत्ता मिली थी तथापि प्रशासनिक सुविधा के लिए साम्राज्य को अनेक प्रांतों, विषयों, षठकों तथा ग्रामों में विभाजित किया गया था तथा सामन्तीय व्यवस्था विद्यमान थी। हर्षचरित में बाण कई प्रकार के सांमतों का उल्लेख किया है। पर हर्ष के कुशल शासन संगठन में सांमतों एवं मित्र राज्यों की ओर से विद्रोह के उदाहरण नहीं मिलते। हर्षचरित में उल्लिखित है किस प्रकार सामंत सम्राट् के दर्शन के प्रति लालायित रहते थे। विविध प्रशासनिक इकाइयों तथा

इनके अधिकारियों पर शासक की सुदृष्टि सदैव बनी रहती थी तथा प्रत्येक विभाग के अधिकारी अपने दायित्यों का अत्यंत निष्ठापूर्वक निर्वाह करते थे। "दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य च सम्प्रवृद्धिः। अपक्ष-पातोऽर्शिषु राष्ट्ररक्षापंचैव यज्ञाः कथिता नृपाणामगै" तथा नृपस्य परमो धर्म-प्रजानां परिपालन्। दुष्टनिग्रणम नित्यं न नीत्या ते विना ह्युमे।" को आदर्श मानते हुए हर्ष न्याय एवं दंड के मामले में अतिशय जागरूक रहा। चीनी यात्री के विवरणों से पता चलता है कि दण्ड के मामले में हर्ष कठोर थे तथा अपराधियों की कई प्रकार से परीक्षा करके ही दण्ड दिया जाता था। इस तरह अपराधों में वृद्धि न हो, इसके लिए वह दण्ड तो आवश्यक मानता था पर उसका यह भी उददेश्य रहता था कि एक भी निरपराधी दण्ड न प्राप्त करे।

हर्ष ने पुरातन राजनीति शास्त्रकारों के इस मन्तव्य को "कि राजा का प्रधान कर्तव्य प्रजारक्षण अर्थात् चोरों, डाकुओ आदि के भीतरी आक्रमणों तथ बाहरी शत्रुओं से प्रजा के प्राण एवं संपत्ति की रक्षा करना तथा उनका सर्वतोभावेन हित सोचना है," आदर्श स्वीकार करते हुए अपने को भारत के महान प्रजावत्सल शासकों की कोटि में खडा कर दिया। अपने दानाभिलेखों में हर्ष ने स्वीकार किया है कि कर्म, मन तथा वाणी से प्राणियों का हित करना चाहिए क्योंकि पुण्यार्जन का यह उत्तम उपाय है।[4] हर्ष ने इसे सिद्धांत रूप में ही स्वीकार न किया प्रत्युत्त व्यवहार में करके भी दिखाया। केवल वर्षा ऋतु को छोडकर शेष समय में वे निरीक्षण यात्राओं मे व्यतीत करते थे ताकि प्रजा के दु:खों एवं उनकी समस्याओं से सम्यक् रूप से परिचित होकर उसे दूर करें। श्रीराम गोयल का विचार है कि सतत् यात्राओं में व्यस्थ रहने तथा राजधानी से बाहर रहने के कारण केन्द्रीय प्रशासन में ढिलाई आती थी। पर हर्ष पर यह आक्षेप ठीक नही है। राजकीय दौरों का उद्देश्य प्रशासन को अधिक चुस्त तथा प्रभावकारी बनाना था। इससे प्रशासनिक शिथिलता आने का प्रश्न ही नहीं था। मौखरि शासकों की भांति वह भी वर्ण धर्म व्यवस्थापन के प्रति सजग था तथा सामाजिक व्यवस्था के विपरीत आचरण करने, विश्वासघात तथा माता-पिता के साथ अशोभनीय व्यवहार को भी बर्दाश्त नहीं करता था। वह अविश्रान्त अहर्निस जनता की सेवा करता रहा और दिन उसके लिए छोटा

था। अशोक की भांति राजमार्गों के किनारे पुण्यशालाएँ बनायी गयी थीं जहाँ दीनों, अनाथों के लिए भोजन, जल आदि की व्यवस्था थी।

हर्ष युद्ध कला में जितना निष्णात था उतना ही शांति की कला में भी और इस क्षेत्र में उसने अपने को अद्वितीय साबित कर दिया। आर० सी० मजूमदार ने सर्वथा उचित ही लिखा है कि वह कलम उतनी ही कुशला से चलाता था जितनी कुशलता से तलवार। हर्ष प्रणीत तीन लघु नाटिकाएं- रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानंद तथा कुछ स्फुट श्लोक इसके व्यक्तिगत विद्यानुराग एवं सृजनात्मक प्रतिभा के देदीप्यमान प्रमाण हैं। महाकवि जयदेव ने अपनी प्रसिद्ध कृति प्रसन्नराघव में एक रूपक द्वारा भास, कालिदास आदि कवियों को कविता, कामिनी के विभिन्न अंगों एवं चेष्टाओं को स्थानीय बतलाते हुए श्री हर्ष को उसका हर्ष कहा है।[5]

सोड्ढल ने उदयसुन्दरीकथा में श्रीहर्ष को गीहर्ष की उपाधि दी है।[6] स्वयं बाण ने उसके काव्य चातुर्य की प्रशंसा की है।[7] सत्रहवीं शती ई० के मधुसूदन नामक एक लेखक ने भी श्रीहर्ष को कवियों का मूर्धन्य कहा है। सुभाषित रत्न भाण्डागार में संग्रहीत एक पद्य में श्री हर्ष का नाम उन कवियों में गिना गया है जिन्होंने अपनी कृतियो से लोकरंजन किया।[8] विद्वता एवं कवित्व के क्षेत्र में हर्ष की बराबरी करने वाले शासक कम मिल पाते हैं। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को उच्चकोटि का विद्वान अवश्य कहा गया है पर इसकी एक भी कृति के विषय में हमें जानकारी नही हैं। सम्राट् हर्ष मात्र विद्वान ही नहीं थे बल्कि विद्वानों एवं कवियों के उदार संरक्षक भी थे। बाण, मयूर, मातंग दिवाकर तथा अन्य अनेक कवि एवं विद्वान हर्ष की राज्य सभा के अलंकरण थे। इसके सभा रत्नों को देखकर एक बार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का स्मरण आ जाता हैं। चीनी यात्री ने लिखा है कि शीलादित्य की सकल आय का एक निश्चित भाग विद्वानों को उनकी बौद्धिक उप्लब्धियों के निमित्त पुरस्कृत करने के लिए व्यय किया जाता था। लाइफ के अनुसार शीलादित्य ने सौराष्ट्र से

मगध आकर बसने वाले जयसेन नामक बौद्ध आचार्य को उड़ीसा के अस्सी गांव की आमदनी देने का प्रस्ताव किया था पर उस त्यागमूर्ति आचार्य ने इसे अस्वीकार कर दिया था।

हर्ष की दानशीलता की बराबरी तो विश्व का कोई सम्राट् नहीं कर सकता। हर्ष के पूर्व अशोक, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी अति दानी थे। स्तम्भ प्रज्ञापन सात में अशोक स्वयं कहता है कि धर्म महामात्यों की नियुक्ति इसलिए की गयी थी कि वे उसके साथ तथा उसकी रानियों द्वारा दिये गये दानों की ठीक-ठीक व्यवस्था करें। इसी प्रकार रानी के प्रज्ञापन में रानी द्वारा आम्र उद्यान, फलोद्यान, भिक्षुकगृह दान दिये जाने का उल्लेख किया गया है। समुद्रगुप्त भी महान दानी था। प्रयाग प्रशस्ति में उसे शतसहस्त्र गायों का दाता कहा गया है। संजन दान पत्र में चंन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को दाता कहा गया है। सम्राट् हर्ष भी इन पूववर्ती शासकों का अनुसरण करते हुए समय-समय पर अनेक दान करते रहे। पर उसकी दानशीलता की परिणति प्रयाग दान महोत्सव में दिखायी पडती है। इसका आयोजन प्रति पाँचवें वर्ष प्रयाग मे किया जाता था। इसमें हर्ष उन्मुक्त भाव से श्रमणों, ब्राह्मणों, दीनों, अनाथों आदि को प्रचुर सुवर्ण, रत्न, वस्त्र आदि दान करता था। हुएनसांग की उपस्थिति में जिन दान महोत्सवों का आयोजन किया गया था वह इस प्रकार का छठा दान महोत्सव था। इसमें शासक ने सैनिक उपकरणों, हाथियों एवं घोड़ों को छोड़कर शेष सब कुछ दान कर दिया था। कहा जाता है कि हर्ष ने इस दानोत्सव में अपना कीमती आभूषण, वस्त्र आदि भी दान कर दिया और उन्हें अपनी बहन राज्यश्री से वस्त्र मांगकर शरीर ढकना पड़ा। लाइफ के अनुसार हर्ष इस दान से अत्यंत प्रसन्न था और कहता था, "इन संपत्तियो तथा कोषों को संग्रहीत कर मुझे सदैव इस बात का भय रहता था कि इन्हें सुरक्षा के साथ नहीं रखा गया है किंतु धार्मिक कार्यों में इसे त्याग कर मैं साधिकार कह सकता हूँ कि मैं अपने भावी जन्मों में भी इस प्रकार संचित धन मानव जाति को धर्माभाव से दान करता रहूँ जिससे बुद्ध का दश बाल प्राप्त हो सकें। अपने बंखेड़ा तथा मधुबन ताम्रलेखों में वे स्पष्टतः कहते है कि विद्युत तथा जल के बुलबुले के समान चंचला लक्ष्मी का फलदान देने तथा दूसरों के यश की रक्षा करना है।[9] चीनी यात्री ने लिखा है कि हर्ष की

राजकीय आय का चौथाई भाग दान देने तथा पुर्ण्याजन में व्यय किया जाता था।

अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आदि की भांति हर्ष भी एक धर्मनिष्ठ तथा धर्म सहिष्णु शासक था। यद्यपि उसके अग्रज राज्यवर्द्धन तथा पिता प्रभााकरवर्द्धन ब्राह्मण धर्मानुयायी तथा आदित्य भक्त थे। पर हर्ष परम माहेश्वर तथा शिव के उपासक थे। हर्ष की मुद्राओं पर शिव वाहन वृष का चित्र अंकित मिलता है। दिग्विजय के लिए प्रस्थान के समय जिस समय हर्ष सरस्वती नदी के तट पर बनाये गये आश्रम में रूके थे उस समय ग्रामाक्ष पटलको ने हर्ष को जो सुवर्ण मुद्रा भेंट की थी उसमें वृष की आकृति अंकित थी। शशांक के विरूद्ध प्रस्थान के समय हर्ष ने शिव की उपासना की थी तथा अनेक प्रकार का दान किया था। नालंदा से प्राप्त हर्ष की मुद्राओं पर परम माहेश्वर उपाधि मिलती है। अभी कुछ वर्ष पूर्व प्रोफेसर के0 डी 0 वाजपेयी को हर्ष की जो एकमात्र सुवर्णमुद्रा उत्तर प्रदेश के फरूखावाद से मिली है उसके पुरोभाग पर 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री महाराज हर्ष देव' पद तथा पृष्ट भाग पर नंदी पर आरूढ शिव-पार्वती की आकृति अंकित है। यह मुद्रा हर्ष के शैव होने का अत्यंत सुस्पष्ट प्रमाण है। पर हर्ष जीवन पर्यत्न शैव न रह सका। अपने जीवन के अंतिम वर्षों मे वह परम बौद्ध हो गया तथा अंत तक इसके उन्नयन में लगा रहा। कन्नौज की धर्म परिषद्, हुएनसांग के प्रति इसके झुकाव, बौद्ध विहारों के प्रति इसके द्वारा दिये गये दानों आदि से इसकी धर्म के प्रति अनन्य आस्था प्रकट हो जाती है। हर्ष का इस धर्म के प्रति आकर्षण कब बढ़ा, स्पष्टतः ज्ञात नहीं है। हुएनसांग से भेंट होने के पूर्व आचार्य दिवाकरमित्र के संपर्क में आने से लगता है हर्ष का बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षण बढ़ गया था। पर दुर्मद गौड को दण्डित करने तथा अन्य शत्रुओं को पराजित करने की प्रतिज्ञा को पूरी करने में व्यस्त होने के कारण वह अहिंसापरक बौद्ध धर्म पर पूरी तरह से अमल नहीं कर सका। हुएनसांग से भेंट होने के समय तक उसका बहुत कुछ लक्ष्य पूरा हो चुका था। अस्तु इस धर्म को पूर्णरूप से अपनाने में उसे कोई कठिनाई न हुयी।

नागानंद में आत्मत्याग, दान, उदारता एवं मृत्यु के समय भी सिद्धांतों पर अविचल रहने की श्रेष्ठ भावना निगदित हैं इसी नाटक में अनेक युद्धों के निमित सफलतापूर्वक सैन्य संचालन करने वाले सम्राट् हर्ष नागानंद के नायक जीमूतवाहन के मुख से यह कहलाते है कि राज्य विस्तार के लिए युद्ध करना निःसार है क्योंकि इससे भयंकर नरसंहार होता है। इससे प्रकट होता है कि महान सम्राट् अशोक, जिसने कलिंग विजय एवं उसमें हुए नरसंहार से दुःखी होकर भविष्य में कभी भी युद्ध न करने का निर्णय ले लिया था, की भांति सम्राट् हर्ष भी अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अहिंसापरक बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख हो गये थे। प्रायः सभी विद्वान यथा विंसेन्ट स्मिथ, गौरी शंकर चटर्जी, रमाशंकर त्रिपाठी, एल0 एम0 जोशी, पी0 वी0 बपट, बी0 एन0 शर्मा, आर0 के0 मुकर्जी आदि ने हर्ष को परम बौद्ध स्वीकार किया है। पर प्रोफेसर श्रीराम गोयल उससे सहमत नहीं है। आपके अनुसार हर्ष ने व्यक्तिगत रूप से अपने जीवन के किसी भी भाग में हीनयान अथवा महायान धर्म नहीं अपनाया। हुएनसांग से मिलने पर उसने महायान धर्म के प्रति अपनी जिज्ञासा प्रकट की और चीनी विद्वान के प्रति आदर प्रकट किया परन्तु उसने स्वयं व्यक्तिगत रूप से स्वधर्म नहीं छोड़ा। हुएनसांग का साक्ष्य अविश्वसनीय है तथा उसके सपर्क में आने के बाद भी हर्ष बौद्ध नहीं बना। हुएनसांग ने कन्नौज की धर्म सभा की घटनाओं को तोड़-मरोड़ कर और बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया है।'' उसमें संदेह नहीं है कि विद्वान लेखक ने अपने मत के समर्थन मे कई सारगर्भित तर्क प्रस्तुत किया है पर ये तर्क अंतिम रूप से स्वीकार्य नहीं है और जब तक अन्य स्पष्ट साक्ष्य न मिल जाय हर्ष को बौद्ध मानने में कोई विशेष अडचन नहीं दिखायी पड़ती।

सम्राट् हर्ष मात्र परम बौद्ध ही न थे। इसके उन्नयन में इन्होने अप्रतिम योगदान दिया। अशोक, मिनेन्डर, कनिष्क आदि राजाओं के अपूर्ण कार्य को पूरा करने में हर्ष की भूमिका श्लाघनीय रहीं। हर्ष के राज्यग्रहण के समय बौद्ध धर्म अपने वास्तविक स्वरूप से हट कर पतनोन्मुखी स्थिति में था। पर हर्ष के इस दिशा में किये गये योगदानों तथा बौद्ध धर्म के प्रति अनन्य अनुराग से इस धर्म में पुनः जीवन आया। हर्ष द्वारा प्राणियों के हित में किये गये कार्य हमें अशोक का स्मरण दिला देते हैं। इसने भी अहिंसापरक बौद्ध

धर्म के अभ्युत्थान के लिए जीवहत्या पर रोक लगायी तथा दीन-दुखियों के भोजन, पेय तथा चिकित्सा के लिए पुण्यशालाओं की स्थापना करवायी। हुएनसांग की भारत यात्रा एक विदेशी की धर्मयात्रा नहीं बल्कि बौद्ध धर्म के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। कान्यकुब्ज की धार्मिक सभा तथा उसमे महायान धर्म की सर्वश्रेष्ठता घोषित करना, उड़ीसा में महायान धर्म प्रचार, नालंदा विश्वविद्यालय के प्रति दिये गये प्रचुर दान, स्तूपों तथा विहारों के निर्माण आदि द्वारा हर्ष ने बौद्ध धर्म की जो सेवा की उससे यह एक बार पुनः जीवित हुआ।

पर हर्ष भी कट्टर बौद्ध न होकर परम धर्म सहिष्णु थे तथा सभी धर्मों के प्रति आदर भाव रखते थे। उसकी पुष्टि अनेक साक्ष्यों से हो जाती है। प्रयाग दान महोत्सव में संपूर्ण पंचभारत के श्रमण, ब्राह्मण धर्मावलम्बी, निर्ग्रंथ, दीन, अनाथ, असहाय आये हुये थे। रत्नावली तथा नागानद नाटिकाओं के मंगल श्लोकों में शंभु, गिरिजा, गंगा, पार्वती, ब्रह्मा, कृष्ण, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवी देवताओं की स्तुति की गयी है। इसकी राज्यसभा में विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के अनुयायी रहते थे।

आर0 के0 मुकर्जी तथा विन्सेण्ट स्मिथ जैसे कुछ विद्वानों ने हर्ष पर धार्मिक असहिष्णुता का आक्षेप लगाया है। प्रमाण मे कान्यकुब्ज की धर्मसभा में हुएनसांग तथा बौद्ध धर्म के प्रति आवश्यकता से अधिक आकर्षण तथा तारानाथ के विवरण, जिसके अनुसार हर्ष द्वारा मूलस्थान में एक विहार में अन्य धर्मावलम्बियों को एकत्र कर भस्म करवा दिये जाने की बात कही गयी है, प्रस्तुत किया जाता है। पर इन दोनों आधारो पर हर्ष पर धार्मिक असहिष्णुता का आक्षेप लगाना न्यायोचित न होगा। हर्ष ने हुएनसांग के प्रति जो कुछ पक्षपात किया उसका कारण मात्र एक विदेशी बौद्ध यात्री जो भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के बहुत ऊँचे सपनों के साथ भारत आया था, कि सर्वतोभावेन रक्षा करना मात्र था। जब हर्ष को यह आशंका हुयी कि कुछ बौद्धेत्तर अनुयायी चीनी यात्री को क्षति पहुंचाने और उसे अपमानित करने का कुचक्र रच रहे हैं तो उसने जरूरत से ज्यादा कठोरता दिखायी तथा सभा में स्वतंत्र शास्त्रार्थ की पूर्व निधार्रित योजना के स्थान पर एक मात्र हुएनसांग को

ही अपने पक्ष के समर्थन का अवसर दिया। इस प्रकार चीनी यात्री तथा बौद्ध धर्म के प्रति उसका पक्षपात सकारण था। रही बात तारानाथ के विवरण की तो इसे कल्पनाजनित अधिक माना जा सकता है। तारानाथ एक परवर्ती इतिहासकार था। उसने यह बात किसी प्रचलित अनुश्रुति के आधार पर लिख दी थी। इसका कोई ठोस आधार नहीं रहा होगा। कन्नौज सभा के अनंतर प्रयाग दान महोत्सव मे ब्राह्मण देवी-देवताओं की पूजा तथा ब्राह्मणों आदि को दान से हम कैसे कह सकते है कि उसने अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णुता दिखायी थी?

इस प्रकार हम देखते है कि सम्राट् हर्ष एक कुशल राजनेता, विजेता, साम्राज्य निर्माता, शासन संगठनकर्ता, कूटनीतिज्ञ, दूरदर्शी, विद्यानुरागी एवं विद्या के महान संरक्षक, महान दानी, प्रजावत्सल, धर्मनिष्ठ एवं धर्म सहिष्णु शासक थे और इस दिशा मे भारत के महान शासकों चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, अकबर आदि की कोटि में रखे जा सकते है जिनके किसी न किसी गुणों एवं भावनाओं का इनमें सन्निवेश था। एच0 जी0 राविल्सन ने सर्वथा उचित लिखा है कि "एक सैनिक प्रशासक, अद्वितीय प्रजावत्सल, दयावान, सदाशयी, साहित्य के संरक्षक तथा स्वयं एक कुशल कवि एवं नाटककार के रूप में इतिहास के पन्नों में हर्ष का स्थान अत्यंत आकर्षक एवं शानदार है।

वास्तव में अपने शासनकाल में सम्राट् हर्षवर्धन ने राष्ट्रीय और मानवीय दृष्टि से सुधार, विकास, सेवा एव सर्वांगीण समुन्नति के लिए अपने आदर्शमय, त्यागमय जीवन से शिक्षा, धार्मिक सहिुष्णुता, उपकार, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति, तथा दान-धर्म के लिए जो कार्य किये हैं, उतनी तत्परता और तन्मयता से संभवतः गुप्त साम्राज्य के अतिरिक्त अन्य किसी शासक ने नहीं किए हैं। अपने जीवन के अंतिम समय तक जो भी कार्य सम्राट् हर्षवर्द्धन ने किये हैं वे सभी कार्य उसके सम्पूर्ण शासनकाल के मूल्यांकन के मुख्य आधार हैं।

1-न विवाहोः समाजो वा यदि राजा न पालयेत्।।-महाभारत, शांतिपर्व, 68-अध्याय, 22-श्लोक।

2-हस्ताद्धस्तं परिमुषेद् भिघरेन् सर्वसेतवः।

भयार्ते विद्रवेत् सर्वे यदि राजा न पालयेत्।। -वही, 28 श्लोक।

3-अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवस्थिते।

परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिग् राजकम।। -वही 3-श्लोक।

4-कर्म्मणा मनसा वाचा कर्तव्यं प्राणि ने हितं।

हर्षेनैतत्समाख्यातं धर्म्मार्जनमुत्तमम्।।

5-यस्याश्चौरश्चिकुरिनकरः कर्णपूरो मयूरो

भासो हासः कविकुलगुरूः कालिदासो विलासः।

हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पंचबाणस्तु बाणः

केषां नैधां कथय कविताकामिनी कौतुमाय।।

6-श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु

नाम्नैव केवलमजायत वस्तुवस्तु।

'गीहर्ष एष निजंससदि येन राज्ञा

सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः।।

7-"काव्यकथा स्वपीतामृतमुद्धमन्तम्", "विमलकपोलप्रतिविम्बितां चारमग्राहिणी विग्रहिणीमिव' मुखवासिनीं सरस्वती मादधानम्" आदि।

8-माधश्चोरो मयूरो मुररिपूरपुरो भारविः सारविधःश्रीहर्ष. कालिदासः कविरथ भवभूत्या ह्योभोजराजः। श्री दण्डी डिण्डिमारव्यः श्रुतिमुकुटगुरूर्भल्लटो भट्टबाणः ख्यातश्चान्ये सुबन्धुवांदय इत कृतिभिर्विश्च माह्वादयन्तिः।। ।

9-लक्ष्म्यास्ताडित्सलिल बुदबुदचंचचलाया दानं पुलं पर यशःपरिपालनंच ।

....

सहायक ग्रंथ

मौलिक ग्रंथ एवं अनुवाद

अग्निपुराण- आनंदाश्रम मुद्रणालय, 1957।

अर्थशास्त्र- रघुवीर द्वारा सम्पादित, लाहौर, एम0 क्लूमफील्ड का अंग्रेजी अनुवाद, ऑक्सफोर्ड, 1897।

अभिज्ञान शाकुन्तलम्- कालिदास, एस0 आर0 शास्त्री का हिन्दी अनुवाद, मद्रास, 1858।

ईशावास्योपनिषद- गीताप्रेस, गोरखपुर।

उदयसुन्दरी कथा- सोड्ढ़ल, गायकवाड़, ओरियेन्टल सिरीज।

ऋग्वेद संहिता- एफ0 मैक्समूलर द्वारा संपादित, ऑक्सफोर्ड, 1890-92।

काव्यमीमांसा- राजशेखर, डा0 गंगासागर राय का हिन्दी अनुवाद, वाराणसी, 1964।

काव्यप्रकाश- मम्मट।

कादम्बरी- बाण, एम0 आर0 काले का अंग्रेजी अनुवाद, बंबई, 1929। बाणभट्ट, मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी, 1976।

दशकुमारचरित- दण्डिन, निरंजनदेव विद्यालंकार का हिन्दी अनुवाद।

द क्लासिकल एज- भारतीय विद्या भवन, बंबई।

नागानंद- श्रीहर्ष, मद्रास, 1932।

नागानंद- हर्षवर्द्धन, टी0 गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम, 1917।

नीतिशतक- भर्तृहरि, बनारस, 1955।

प्रियदर्शिका- श्रीहर्ष, मद्रास, 1948।

प्रियदर्शिका- हर्षवर्द्धन, बी0 डी0 गाडरे द्वारा संपादित, बंबई, 1884।

पंचतंत्र- विष्णुशर्मन, एम0 एस0 आप्टे, पूना, 1894।

पंचतंत्र- मन्नालाल अभिमन्यु एवं सीताराम झा, मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड संस।

भगवद्गीता- गीताप्रेस, गोरखपुर।

मनुस्मृति- मेधातिथि के भाष्य सहित जी0 झा का अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता, 1922-29।

मनुस्मृति- कुल्लूकभट्ट, भाष्यसहित, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् 2039।

मत्स्यपुराण- पूना, 1907।

महापुराण- जिनसेन।

महाभारत- मन्मथनाथ दत्त द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता, 1995।

महाभारत शांतिपर्व- गीताप्रेस, गोरखपुर।

याज्ञवल्क्य स्मृति- पर अपरार्क, बम्बई, 1914।

याज्ञवल्क्य स्मृति- पर विज्ञानेश्वर , जे0 आर0 घारपुरे का अंग्रेजी अनुवाद, 1936।

रत्नावली-श्रीहर्ष, एस0 आर0 शास्त्री का अंग्रेजी अनुवाद, मद्रास, 1952।

रत्नावली- हर्षवर्द्धन, पूना ओरियन्टल बुक हाउस, पूना, 1954।

रामायण- बाल्मीकि, ग्रिफिथा, आर0 टी0 एच0 का अंग्रेजी अनुवाद, लंदन, 1873।

रघुवंश- कालिदास, बम्बई, 1953।

विष्णुपुराण- बम्बई, 1889।

विष्णुधर्मसूत्र।

वैदिक एज- भारतीय विद्या भवन, बंबई।

वाक्यप्रदीप- भर्तृहरि, पूना, 1963।

वृहस्पतिस्मृति-गा0 ओ0 सि0, 1941।

स्वप्नवासवदत्ता- भास।

हर्षचरित- बाणभट्ट, निर्णय सागर प्रेस, मोतीलाल बनारसी दास, 1958।

हर्षचरित- बाण कामल और थॉमस का अंग्रेजी अनुवाद, लंदन, 1897।

विदेशी विवरण

ऑन हुएनसांग ट्रेवेल्स इन इंडिया- थॉमस वाटर्स, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, 1961।

ए रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलिजन एज प्रैक्टाइज्ड इन इंडिया एण्ड द मलय आर्किपैलगो- इत्सिंग- तकाकुसु का अंग्रेजी अनुवाद, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इंडिया, लंदन, 1896।

ट्रेवेल्स ऑफ हुएनसांग-2- रेकार्ड्स।

बुद्धिस्ट रेकार्ड्स ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड- बीलकृत, लंदन, 1906।

लाइफ ऑफ हुएनसांग बाई समन-हुई-ली- बील कृत, लंदन, 1911।

जरनल्स

आर्केलॉजिक सर्वे ऑफ इंडिया, एनुअल रिपोर्ट्स, 1911-12।

इंडियन हिस्टॉरिकल क्वाटर्ली।

एपिग्राफिका इंडिका, निधानपुर का दानपत्र।

कार्पस इन्सक्रिप्शसनल इंडिकारम, बी0 वी0 मीराशी।

कार्पस इंडिकारम, वोल्यूम-48, फ्लीट।

कार्पस इंसिक्रिपटयोनम इंडिकारम, एरण का लेख।

कार्पस इन्सक्रिप्योनम-इंडिकारम, चन्मक का दानपत्र।

चाइनीज इकाउन्टस ऑफ इंडिया, हुएनसांग।

जर्नल ऑफ द बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, फादर हेरास।

प्राचीन भारत, सूचना केन्द्र, भारत सरकार, दिल्ली।

सेलेक्ट इन्सक्रिप्थन्स।

सोशल वैल्यूज ऑफ दि पुष्यभूतिज, जर्नल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी पटना, शंकर गोयल।

अन्य पुस्तकें

अल्टेकर, ए0 एस0, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति। बनारस, 1955।

अल्टेकर, ए0 एस0, राष्ट्रकूट एण्ड दैट टाईम्स। पूना, 1934।

अल्टेकर, ए0 एस0 तथा मजूमदार, दि क्लासिकल एज। भारती विद्या भवन द्वारा प्रकाशित, बम्बई, 1954।

अल्टेकर, ए0 एस0, वकाटक-गुप्त एज। मोतीलाल बनारसी दास, 1967।

अल्टेकर, ए0 एस0, स्टेट एण्ड गर्वमेण्ट इन ऐंशेन्ट इंडिया। मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1984।

अग्रवाल, वी0 एस0, हर्षचरित-एक सास्कृतिक अध्ययन। भारतीय राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1953।

अल्टेकर, ए0 एस0, गुप्तकालीन मुद्रायें।

ओझा, जी0 एस0, राजपूताने का इतिहास। तीन जिल्दों में, द्वितीय संस्करण अजमेर, 1933।

ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास। वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, लखनऊ, 1996।

उपाध्याय, बलदेव, बौद्ध धर्म मीमांसा।

उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त साम्राज्य का इतिहास। इलाहाबाद, 1939।

उपाध्याय, बलदेव, शंकराचार्य।

एटिंगहाउसेन, एम0 एल0, हर्षवर्द्धन-इम्पेरर एण्ड पोएट। पेरिस, 1906।

कौसल्यायन, आनंद, जातक। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1971।

कौशाम्बी, डी0 डी0, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता।

काणे, पी0 बी0, धर्म शास्त्र का इतिहास। वोल्यूम-4, पूणे, 1930-46।

कीथ, ए0 बी0, संस्कृत साहित्य का इतिहास। आक्सफोर्ड, लन्दन, 1928।

कस्तूरिया, एस0 नारायण, सम्राट् हर्षवर्द्धन। हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस, 1956।

केसरवानी, डा0 प्रदीप, प्राचीन भारत में वैश्य समुदाय की स्थिति और उसकी भूमिका (प्रारंभ से लेकर 1200 ई0 तक)। आदिति प्रकाशन, आकांक्षा इलाहाबाद, 1997।

कपूर, यदुनंदन, हर्ष।

कनिंघम, एंशियण्ट जियोग्राफी ऑफ इण्डिया।

गोयल, एस0 आर0, इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ गुप्ताज।

गोयल, श्रीराम, मौखरि पुष्यभूति चालुक्य।

घिल्डियाल, गोदावरी, महाभारत कालीन समाज एवं राज्य-व्यवस्था।

घिल्डियाल, गौरी शुक्ल यजुर्वेद में भैषज्यविज्ञान।

घिल्डियाल, अच्युतानन्द, धर्म समाज शास्त्र।

घिल्डियाल, अच्युतानंद, कालिदास और उसका मानवीय साहित्य।

घिल्डियाल, अच्युतानन्द, प्राचीन राजवंश और बौद्ध धर्म। विवेक घिल्डियाल बन्धु, वाराणसी, 1986।

चट्टोपाध्याय, सुधाकर , अर्ली हिस्ट्री ऑफ नॉर्थ इंडिया। मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1976।

चटर्जी, गौरी शंकर, हर्षवर्द्धन। द्वितीय सस्करण, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1950।

चट्टोपाध्याय, के0 सी0, यू0 पी0 हिस्टोरिकल सोसाइटी। 1937।

चटर्जी, गौरी शंकर, हर्षचरित।

चौधरी, आर0 के0, प्राचीन भारत का राजनीतिक एव सांस्कृतिक इतिहास। भारती भवन, पटना, 1993।

चटर्जी, जी0 एस0, हर्षवर्द्धन। हिन्दुस्तानी एकेदमी, इलाहाबाद, 1950।

जायसवाल, काशी प्रसाद, द इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इडिया। लाहौर, 1934।

टंडन, पी0 डी0, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (600 ई0 से 1200 ई0 तक)। उत्तर प्रदेश शासन।

डा0 पन्निकर, कन्नौज का श्री हर्ष, बंबई, 1922।

डा0 मोतीचन्द्र-प्राचीन भारतीय वेशभूषा।

तारानाथ, भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास।

थापर, रोमिला, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया। वोल्यूम-1, पेंग्विन बुक्स, 1966।

थापर, रोमिला, भारत का इतिहास। राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992।

द्विवेदी, एच0 पी0, मध्यकालीन धर्म साधना।

दास, ए0 सी0, इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ एंशियण्ट इंडिया।

देवदूती, डी0, हर्ष- ए पोलिटिकल स्टजी। ऑक्सफोर्ड, 1970।

दत्त, नालिनाक्ष, उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म।

देवी, गीता, उत्तर भारत में शिक्षा-व्यवस्था (600 ई0 से 1200 ई तक)। इंडियन प्रेस(पब्लिकेशन) प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, 1980।

दिनकर, आर0 डी0 एस0, संस्कृति के चार अध्याय।

नरेन्द्रदेव, बौद्ध दर्शन। राष्ट्र भाषा परिषद, पटना।

पाण्डेय, रामनिहोर, सम्राट हर्ष। प्रमानिक पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1988।

पाण्डेय, रामनिहोर, संगमयुग।

पाठक, डा0 विशुद्धानंद, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, (600 ई0 से 1200 ई0 तक)। उत्तर प्रदेश शासन राजर्षी पुरूषोत्तम दास टण्डन, हिन्दी भवन, लखनऊ, 1973।

पाण्डेय, जी0 सी0, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास। इलाहाबाद, 1957।

पांथरी, बी0 पी0, हर्षचरित शिलादित्य।

पाण्डेय, त्रिनेत्र, भारत का वृहद इतिहास। लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1982।

पारखी, पी0 एस0, लाइफ ऑफ हर्ष।

पाण्डेय, राजबली, प्राचीन भारत।

पाण्डेय, वी0 सी0, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास। सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 1992।

फर्कुहर, ए रिलीजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया।

बाशम ए0 एल0, अदभुत भारत। शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1992।

बनर्जी, आर0 डी0, द एज ऑफ इंपीरियल गुप्ताज।

मुकर्जी, आर0 के0, एजूकेशन इन एंशियेण्ट इंडिया। दिल्ली, 1960।

मुकर्जी, डा0 आर0 के0, हर्ष। मोतीलाल बनारसी दास, तृतीय प्रकाशन, 1965।

महाजन, बी0 डी0, प्राचीन भारत का इतिहास।

मजूमदार, आर0 सी0, प्राचीन भारत। बनारस, 1952।

मजुमदार, आर0 सी0, राय चौधरी , एच0 सी0, दत्ता के0, भारत का वृहद इतिहास। मैकमिलन, दिल्ली, 1970।

मुकर्जी, आर0 के0, प्राचीन भारत। इलाहाबाद, 1956।

मुकर्जी, आर0 के0, हर्ष। पटना, 1959।

मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास। बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1974।

मुकर्जी, आर0 के0, हर्ष। मोतीलाल बनारसी दास, 1959।

मेहता, जी0 पी0, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य।

मजूमदार, आर0 सी0, राय चौधरी, एच0 सी0, दत्त, कालिकिंकर, भारत का वृहत इतिहास। मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1970।

यादव, डा0 बी0 एन0 एस0, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नॉदर्न इंडिया। 1973।

राय, यू0 एन0, स्टडीज इन एंशियण्ट इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर।

रिजडेविड्स, टी0 डब्ल्यू0, हिस्ट्री ऑफ इंडियन बुद्धिज्म। लंदन, 1897।

राय, यू0 एन0, स्टडीज इन ऐशेण्ट इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर। इलाहाबाद, 1969।

राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार।

राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्सेंट इंडिया।

राय, यू0 एन0, गुप्त सम्राट् और उनका काल। लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986।

राणा, एस0 एन0 एस0, भारत भूमि का इतिहास। हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1976।

लूनिया, वी0 एस0 (प्र0 सं0), भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास।

वैद्य, चिंतामणि विनायक, मिडाइवल इंडिया।

शर्मा, आर0 एस0, प्राचीन भारत मे भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ। राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1992।

शर्मा, बैजनाथ, हर्ष एण्ड हिस टाइम्स। सुषमा प्रकाशन, वाराणसी, 1970।

शास्त्री, नीलकंठ, चोलवंश।

शर्मा, रामशरण, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं। राजकमल प्रकाशन, पटना, 1992।

शर्मा, आर0 एस0, शूद्राज इन एंशेण्ट इंडिया। पटना, 1958।

शास्त्री, एस0 एल0, नालंदा।

सिंह, एम0 एम, बुद्ध कालीन धर्म और समाज। बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1972।

सातवेलकर, एस0 डी0 (संपादित), ऋग्वेद संहिता। चतुर्थ संस्करण, गुजरात।

सांकृत्यान, राहुल, बुद्धचर्या।

स्मिथ, बी0 ए0, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया। च0 सं0, आक्सफोर्ड, 1924।

संपूर्णानंद, (हिन्दी अनुवाद) सम्राट् हर्षवर्द्धन। बंबई, 1920।

सिंह, डा0 ए0 एस0, भारत की प्राचीन मुद्राएँ। शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1995।

श्रीवास्तव, के0 सी0, प्राचीन भारत का इतिहास। यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, 1992।

श्रीवास्तव, डा0 बी0 एन0, हर्ष एण्ड हिस टाइम्स। वाराणसी, 1976।

त्रिपाठी, आर0 एस0 , कन्नौज का इतिहास। बनारस, 1959।

त्रिपाठी, हवलदार, बौद्ध धर्म और बिहार।

त्रिपाठी, आर0 पी0, स्टडीज इन पोलिटिकल एण्ड सोशियो-इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ अर्ली इण्डिया। नीरज प्रकाशन, इलाहाबाद, 1981।